**सारणी 1 तथा 2 के लिए अभ्यास–**

**सारणी 1, 1999–2000 की जनसंख्या में "शासकीय गरीबी की रेखा" से नीचे रहने वाली प्रत्येक जाति एवं समुदाय का प्रतिशत दर्शाती है। ग्रामीण एवं नगरीय भारत के लिए भिन्न–भिन्न कॉलम हैं। सारणी 2 भी उसी प्रकार बनाई गई हैं, सिवाय इसके कि इसमें गरीबी रेखा के बजाय अमीर लोगों का प्रतिशत दर्शाया गया है। "अमीरी" को ग्रामीण भारत में एक हज़ार रु. प्रति व्यक्ति प्रति माह व्यय एवं नगरीय भारत में दो हजार रु. प्रति व्यक्ति प्रति माह व्यय के रूप में परिभाषित किया गया है। यह ग्रामीण भारत में पाँच व्यक्तियों के परिवार के द्वारा पाँच हजार रु. प्रति माह व्यय तथा नगरीय भारत में दस हजार रु. प्रति माह के बराबर हैं। निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर देने से पहले कृपया इन तालिकाओं को ध्यान से पढ़ें–**

1. **भारतीय जनसंख्या के कितने प्रतिशत लोग गरीबी रेखा के नीचे (क) ग्रामीण भारत में और (ख) नगरीय भारत में रहते हैं?**
2. **किस जाति/समुदाय समूह के ज़्यादातर लोग (क) ग्रामीण तथा (ख) नगरीय भारत में अत्यधिक गरीबी में ज़िन्दगी गुजार रहे हैं? किस जाति/समुदाय के सबसे कम प्रतिशत लोग अत्यधिक गरीबी में जीते हैं?**
3. **प्रत्येक निम्न जातियों (अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़े वर्ग) का गरीबी का प्रतिशत राष्ट्रीय सामान्य प्रतिशत से कितने गुना अधिक है? क्या इसमें कोई महत्वपूर्ण ग्रामीण–नगरीय विभिन्नता है?**
4. **ग्रामीण एवं नगरीय भारत की जनसंख्या में किस जाति/समुदाय के लोगों का अमीरी में सबसे कम प्रतिशत है? राष्ट्रीय सामान्य अनुपात से इसकी तुलना कैसे की जा सकती है?**
5. **उच्च जाति हिन्दुओं की अमीर जनसंख्या का प्रतिशत निम्न जाति (अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं अन्य पिछड़े वर्ग) के प्रतिशत से लगभग कितने गुना ज़्यादा हैं?**
6. **ये सारणियाँ आपको अन्य पिछड़े वर्गों की स्थिति के बारे में क्या बतलाती हैं ? क्या इनमें कोई महत्वपूर्ण ग्रामीण–नगरीय विभिन्नता है?**

## अस्पृश्यता

"अस्पृश्यता" जाति–व्यवस्था का एक अत्यन्त घृणित एवं दूषित पहलू है। छुआछूत कर्मकाण्डीय दृष्टि से सबसे नीची मानी जाने वाली जातियों के सदस्यों के विरुद्ध अत्यन्त कठोर सामाजिक दण्ड व बन्दिशों का विधान करता है। सच पूछिए तो "अस्पृश्य" यानी अछूत मानी जाने वाली जातियों को जाति सोपान या अधिक्रम में कोई स्थान ही नहीं है। वे तो इस व्यवस्था से बाहर हैं। उन्हें तो इतना अधिक "अशुद्ध" एवं अपवित्र माना जाता है कि उनके ज़रा छू जाने भर से ही अन्य सभी जातियों के सदस्य अत्यन्त अशुद्ध हो जाते हैं। जिसके कारण अछूत कहे जाने वाले व्यक्ति को तो अत्यधिक कठोर दण्ड भुगतना पड़ता है, साथ ही उच्च जाति का जो व्यक्ति छुआ गया है उसे भी फिर से शुद्ध होने के लिए कई शुद्धीकरण क्रियाएँ करनी होती हैं। सच तो यह है कि भारत के कई क्षेत्रों (विशेष रूप से दक्षिण भारत) में "दूर से अशुद्धता" की धारणा विद्यमान थी, जिसके अनुसर "अछूत" समझे जाने वाले व्यक्ति की उपस्थिति अथवा छाया ही अशुद्ध समझी जाती थी। अस्पृश्यता की प्रथा न केवल कुछ लोगों से शारीरिक सम्पर्क पर रोक लगाती है, मगर उससे भी बढ़कर उन लोगों पर तमाम सामाजिक प्रतिबन्ध भी लादती है। यहाँ यह बता देना महत्वपूर्ण है कि अस्पृश्यता के तीन मुख्य आयाम हैं– अपवर्जन, अनादर. अधीनता और शोषण। इस प्रथा को परिभाषित करने के लिए ये तीनों आयाम समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि अन्य (यानी "स्पृश्य" मानी जाने वाली) नीची जातियों को भी कुछ हद तक अधीनता और शोषण का सामना करना पड़ता है, लेकिन उन्हें बहिष्कार का उतना चरम रूप नहीं सहना पड़ता जितना कि "अछूतों" को। दलितों को तो बहिष्कार के इतने भयंकर रूप भुगतने पड़ते हैं जो और समूहों को नहीं सहने पड़ते। उदाहरण के लिए, उन्हें पेयजल के सामान्य स्रोतों से पानी नहीं लेने दिया जाता, उनके कुएँ, हैंडपम्प, घाट आदि अलग होते हैं, वे सामूहिक धार्मिक पूजा–आराधना, सामाजिक समारोहों और त्यौहारों–उत्सवों में भाग नहीं ले सकते। साथ ही, उनसे अनेक छोटे काम ज़ोर–ज़बरदस्ती से कराए जाते हैं जैसे, किसी धार्मिक उत्सव पर ढोल–नगाड़े बजाना।

अनादर और अधीनतासूचक अनेक कार्य सार्वजनिक रूप से कराना अस्पृश्यता की प्रथा का एक महत्वपूर्ण अंग है। उन्हें तथाकथित ऊँची जातियों के लोगों के प्रति ज़बरदस्ती सम्मान प्रदर्शित करने के लिए अनिच्छापूर्वक कई व्यवहार करने पड़ते हैं जैसे, टोपी या पगड़ी उतारना, पहने हुए जूतों को उतारकर हाथ में पकड़कर ले जाना, सिर झुकाकर खड़े रहना, एकदम साफ या चमचमाते हुए कपड़े नहीं पहनना आदि–आदि। इसके अलावा, अपशब्द सुनना और अपमान सहना तो उनका रोज़मर्रा का काम है। इसके अतिरिक्त तरह–तरह का आर्थिक शोषण तो मानो इस अस्पृश्यता की कुरीति के साथ सदा से ही जुड़ा है। उन्हें आमतौर पर "बेगार" करनी पड़ती है, जिसके लिए उन्हें कोई पैसा नहीं दिया जाता या बहुत कम मजदूरी दी जाती है। कभी–कभी तो उनकी सम्पत्ति छीन ली जाती है।

इन तथाकथित "अस्पृश्यता" को पिछली अनेक शताब्दियों के सामूहिक रूप से भिन्न–भिन्न नामों से पुकारा जाता रहा है। इन नामों की अपनी व्युत्पत्ति कुछ भी हो, और इनका मूल अर्थ चाहे कुछ भी रहा हो पर अब वे अत्यन्त अपमानसूचक एवं निन्दात्मक हैं। सच तो यह है कि उनमें से अनेक शब्द तो आज भी गाली के तौर पर इस्तेमाल किए जाते हैं हालाँकि आज उनका प्रयोग एक दण्डनीय अपराध माना जाता है। महात्मा गांधी ने जाति के निन्दात्मक इन आरोपों को दूर करने के लिए 1930 के दशक से उन्हें "हरिजन" (जिसका शाब्दिक अर्थ "परमात्मा के बच्चे" हैं) कहकर पुकारना शुरू किया, यह काफी लोकप्रिय हुआ।

किन्तु भूतपूर्व अस्पृश्य समुदायों और उनके नेताओं ने एक दूसरा शब्द "दलित" गढ़ा, जो इन सभी समूहों का उल्लेख करने के लिए अब आमतौर पर स्वीकार कर लिया गया है। भारतीय भाषाओं में, दलित का आक्षरिक अर्थ है "पैरों से कुचला हुआ" और यह उत्पीड़ित लोगों के भाव का द्योतक है।

### जातियों और जनजातियों के प्रति भेदभाव मिटाने के लिए राज्य और अन्य संगठनों द्वारा उठाए गए कदम–

स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले से ही भारतीय राज्य, यानी भारत सरकार अनुसूचित जनजातियों और अनुसूचित जातियों के लिए अनेक विशेष कार्यक्रम चलाती रही है। ब्रिटिश भारत की सरकार ने 1935 में अनुसूचित जातियों और जनजातियों की "अनुसूचियाँ" तैयार की थीं जिनमें उन जातियों तथा जनजातियों के नाम दिए गये थे जिन्हें उनके विरुद्ध बड़े पैमाने पर बरते जा रहे भेदभाव के कारण विशेष बरताव का पात्र माना गया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, उन नीतियों को तो जारी रखा ही गया, उनमें कई नई नीतियाँ भी जोड़ दी गईं। इनमें सबसे उल्लेखनीय परिवर्तन यह किया गया कि 1990 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों से "अन्य पिछड़े वर्गों" के लिए भी कुछ विशेष कार्यक्रम जोड़ दिए गए।

---

**क्रियाकलाप**

**भारत के संविधान की एक प्रति प्राप्त करें। आप इसे अपने विद्यालय के पुस्तकालय या किताबों की किसी दुकान अथवा इंटरनेट से प्राप्त कर सकते हैं । (वेबसाइट : http://indiacode.nic.in/)**
**इसमें आप उन सभी अनुच्छेदों एवं अनुभवों को खोजकर उनकी सूची एवं अनुभागों को खोजकर उनकी सूची बनाएं जो अनुसूचित जातियों और जनजातियों अथवा जाति संबंधी किसी समस्या, जैसे अस्पृश्यता आदि के बारे में हैं । आप सर्वाधिक महत्वपूर्ण विधियों (कानूनों) का एक चार्ट बनाकर अपनी कक्षा में टांग सकते हैं ।**

---

पुराने और वर्तमान जातीय भेदभाव को दूर करने और उससे हुई क्षति की पूर्ति करने के लिए राज्य की ओर से जो सबसे महत्वपूर्ण कदम उठाया गया है उसे आम लोगों में "आरक्षण" के नाम से जाना जाता है। इसके अन्तर्गत सार्वजनिक जीवन के विभिन्न पक्षों में अनुसूचित जातियों के सदस्यों के लिए कुछ स्थान या सीटें अलग निर्धारित कर दी जाती हैं। इन आरक्षणों में अनेक किस्म के आरक्षण शामिल हैं जैसे, राज्य और केन्द्रीय विधानमण्डलों (यानी राज्य विधानसभाओं, और राज्यसभा) में सीटों का आरक्षण, सभी विभागों और सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों के अन्तर्गत सरकारी सेवा में नौकरियों का आरक्षण, शैक्षिक संस्थाओं में सीटों का आरक्षण।

आरक्षित सीटों का अनुपात समस्त जनसंख्या में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के प्रतिशतांश के बराबर होता है। लेकिन अन्य पिछड़े वर्गों के लिए यह अनुपात अलग आधार पर निश्चित किया गया है। इसी सिद्धान्त को सरकार के अन्य विकास कार्यक्रमों पर भी लागू किया गया है, उनमें से कुछ अन्य कार्यक्रमों में उन्हें अधिमान्यता या तरजीह दी जाती है।

आरक्षणों के अतिरिक्त और भी बहुत से कानून हैं जो जातीय भेदभाव, विशेष रूप से अस्पृश्यता को खत्म करने, रोकने अथवा उसके लिए दण्ड देने के लिए बनाए गए हैं। ऐसे शुरूआती कानूनों में एक था 1950 का जातीय निर्योग्यता निवारण अधिनियम, जिसमें यह व्यववस्था की गई थी कि केवल धर्म या जाति के परिवर्तन के कारण ही नागरिकों के अधिकारों को कम नहीं किया जाएगा। ऐसा ही सबसे हाल का कानून था, 2005 का संविधान संशोधन (तिरानवेवाँ संशोधन) अधिनियम, जो 23 जनवरी 2006 को कानून बना। संयोगवश 1950 का कानून और 2006 का संशोधन दोनों ही शिक्षा से सम्बन्धित थे। 93वाँ संशोधन उच्चतर शिक्षा की संस्थाओं में अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण लागू करने के लिए था, जबकि 1850 का अधिनियम सरकारी स्कूलों में दलितों को भर्ती करने की इजाज़त देने के लिए बनाया गया था। इन दोनों के बीच और अनेक कानून बनाए गए जिनमें वस्तुतः सबसे महत्वपूर्ण थे 'भारत का संविधान' जो 1950 में पारित किया गया था और 1989 का अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम। संविधान में अस्पृश्यता का उन्मूलन (अनुच्छेद 17) कर दिया और उपर्युक्त आरक्षण सम्बन्धी उपबन्ध लागू किए। 1989 के अत्याचार निवारण अधिनियम ने दलितों और आदिवासियों के विरुद्ध हिंसा और अपमानजनक कार्यों के लिए दण्ड देने के उपबन्धों में संशोधन करके उन्हें और मजबूत बना दिया। इस प्रकार इस विषय पर बार–बार अनेक कानून बनाए गए जो इस तथ्य के प्रमाण हैं कि अकेला कानून ही किसी सामाजिक कुप्रथा को नहीं मिटा सकता। वस्तुतः जैसा कि आपने समाचार पत्रों में पढ़ा होगा और टी.वी., रेडियो जैसे संचार माध्यमों में देखा–सुना होगा, दलित तथा आदिवासियों के विरूद्ध अत्याचार सहित भेदभाव के मामले आज भी समस्त भारत में देखने को मिलते हैं। बॉक्स (दलित प्रतिरोध का समकालीन उदाहरण) में उल्लेखित मामला एक उदाहरण मात्र है। समाचार पत्रों और संचार माध्यमों से आप ऐसे अनेकानेक मामलों के बारे में जान सकते हैं।

---

**शहर**

**दया पवार**

**एक दिन किसी ने 20वीं सदी के एक शहर को खोदा और अवलोकन किया। एक दिलचस्प शिलालेख विवरण इस प्रकार था : "यह पानी का नलका सभी जातियों और धर्मों के लिए खुला है" इसका क्या मतलब रहा होगा : यही न कि यह समाज बँटा हुआ था? उनमें से कुछ की स्थिति ऊंची थी और बाकी की नीची? ठीक है, फिर तो यह शहर दफन होने लायक ही था– तो फिर लोग इसे मशीन युग क्यों कहते हैं? यह तो 20वीं सदी का "पाषाण युग" प्रतीत होता है।**

---

कोई सरकारी कार्यवाही अकेले ही सामाजिक परिवर्तन नहीं ला सकती। इसके लिए जन–सहयोग की भी आवश्यकता होती है। हर हाल में कोई भी सामाजिक समूह भले ही वह कितना भी कमज़ोर और सताया हुआ हो, सिर्फ अत्याचारों का शिकार ही नहीं होता है। मानव विषम परिस्थितियों में भी, न्याय तथा मान–मर्यादा के लिए एकजुट होकर स्वतः संघर्ष करने को सदा तैयार होते हैं। इसलिए दलित लोग भी स्वयं राजनीतिक, आन्दोलनात्मक और सांस्कृतिक मोर्चों पर अधिकाधिक सक्रिय होते गये हैं। ज्योतिबा फुले, इयोतीदास, पेरियार, अम्बेडकर जैसे अनेक दलित नेताओं द्वारा स्वतंत्रता–प्राप्ति के पहले के दौर में संघर्ष एवं आन्दोलन किए गए थे। वे और अन्य नए आन्दोलन भी स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद उत्तर प्रदेश की बहुजन समाज पार्टी और कर्नाटक की दलित संघर्ष समिति जैसे समकालीन राजनीतिक संगठनों द्वारा चलाए जाते रहें है। इस प्रकार दलितों के राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष काफी लम्बे समय से चल रहा है। उन्हें ने अनेक भारतीय भाषाओं, विशेष रूप से मराठी, कन्नड, तमिल, तेलगू और हिन्दी के साहित्य में उल्लेखनीय योगदान दिया है (बॉक्स देखें, जिसमें मराठी भाषा के सुप्रसिद्ध दलित कवि दया पवार की एक छोटी कविता दी गई है)।

## अन्य पिछड़े वर्ग

अस्पृश्यता सामाजिक भेदभाव का सर्वाधिक स्पष्ट एवं व्यापक रूप था किन्तु जातियों का एक काफी बड़ा समूह ऐसा भी था जिन्हें नीचा समझा जाता था। उनके साथ तरह–तरह का भेदभाव भी बरता जाता था पर उन्हें अछूत नहीं माना जाता था। ये सेवा करने वाली शिल्पी (कारीगर) जातियों के लोग थे, जिन्हें जाति–सोपान में नीचा स्थान प्राप्त था। भारत के संविधान में इस सम्भावना को स्वीकार किया गया है कि अनुसूचित जनजातियों और अनुसूचित जातियों के अलावा और भी कई समूह हो सकते हैं जो सामाजिक असुविधाओं से पीड़ित हैं। ऐसे समूहों को जाति पर आधारित होना जरूरी नहीं हैं, लेकिन वे आमतौर पर किसी जाति के नाम से ही पहचाने जाते हैं। इन समूहों को "सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्ग" कहा गया है। यह आम बोलचाल में प्रचलित "अन्य पिछड़े वर्ग" शब्द का संवैधानिक आधार है, जो आजकल सामान्य रूप से प्रयोग किया जाता है।

"जनजाति" की श्रेणी की तरह अन्य पिछड़े वर्गों को भी नकारात्मक रूप से यानी वे क्या "नही हैं" इसके आधार पर परिभाषित किया जाता है। वे न तो जाति–क्रम में "अगड़ी" कही जाने वाली ऊँची जातियों के हिस्से हैं, और न ही वे निम्नतम सोपान पर स्थित दलितों में आते हैं। लेकिन चूँकि जाति हिन्दू धर्म तक ही सीमित नहीं रही है, बल्कि सभी प्रमुख भारतीय धर्मों में घुस आई है, इसलिए अन्य धर्मों में भी पिछड़ी जातियाँ पाई जाती हैं तथा इनकी भी समान परम्परागत व्यावसायिक पहचान होती है और इनकी सामाजिक–आर्थिक प्रस्थिति भी वैसी ही अथवा उनसे भी बदतर होती है।

इन्हीं कारणों से अन्य पिछड़े वर्ग, दलितों अथवा आदिवासियों की तुलना में अधिक विविधतापूर्ण समूह हैं। जवाहरलाल नेहरू के प्रधानमंत्रित्व में स्वतंत्र भारत की पहली सरकार ने अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याण के उपाय सुझाने के लिए एक आयोग स्थापित किया था। काका कालेलकर की अध्यक्षता में नियुक्त प्रथम पिछड़े वर्ग आयोग ने 1953 में अपनी रिपोर्ट पेश की थी। लेकिन उस समय के राजनीतिक वातावरण को देखते हुए इस रिपोर्ट को ठण्डे बस्ते में डाल दिया गया। पाँचवें दशक के मध्य से अन्य पिछड़े वर्गों का मुद्दा क्षेत्रीय मामला बन गया और इस पर केन्द्रीय स्तर के बजाय राज्य स्तर पर कार्यवाही की जाती रही।

दक्षिणी राज्यों में पिछड़ी जातियों के राजनीतिक आन्दोलनों का लम्बा इतिहास रहा है, जो वहाँ 20वीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में शुरू हो गए थे। इन शक्तिशाली सामाजिक आन्दोलनों के कारण अन्य पिछड़े वर्गों की समस्याओं पर ध्यान देने की नीतियाँ वहाँ, अधिकांश उत्तरी राज्यों में चर्चित होने से पहले ही, अपनाई जाने लगी थीं। अन्य पिछड़े वर्गों का मुद्दा केन्द्रीय स्तर पर 1970 के दशक के आखिरी वर्षों में तब फिर उठ खड़ा हुआ जब आपातकाल (इमरजेंसी) के बाद जनता पार्टी ने शासन की बागडोर सम्भाली। उस समय बी. पी. मण्डल की अध्यक्षता में दूसरा पिछड़ा वर्ग आयोग गठित किया गया। किन्तु आगे चलकर जब 1990 में केन्द्रीय सरकार ने मण्डल आयोग की दस वर्ष पुरानी रिपोर्ट को कार्यान्वित करने का निर्णय लिया तभी अन्य पिछड़े वर्ग का मुद्दा राष्ट्रीय राजनीति में एक प्रमुख विषय बन गया।

1990 के दशक में हमें उत्तर भारत में अन्य पिछड़े वर्गों और दलितों दोनों में ही निचली जातियों के आन्दोलनों में फिर से तेजी दिखाई दी। अन्य पिछड़े वर्गों के मुद्दे के राजनीतिकरण से यह सम्भावना बढ़ गई कि उनकी बड़ी भारी संख्या को राजनीतिक प्रभाव (यानी वोटों) में बदला जा सकता है। हाल के सर्वेक्षणों से पता चलता है कि राष्ट्रीय जनसंख्या में पिछड़े वर्गों का प्रतिशतांश लगभग 41 प्रतिशत है। राष्ट्रीय स्तर पर ऐसा पहले सम्भव नहीं था, इसीलिए कालेलकर आयोग की रिपोर्ट को ठण्डे बस्ते में डाल दिया गया था और मण्डल आयोग की रिपोर्ट की लम्बे समय तक उपेक्षा की गई थी।

उच्च स्तर के अन्य पिछड़े वर्गों (जो अधिकतर भूमिधर जातियाँ हैं और भारत के अनेक क्षेत्रों में वहाँ के ग्रामीण समाज में प्रभुत्वशाली हैं) और निम्न स्तर के अन्य पिछड़े वर्गों (जो बहुत ही गरीब और सुविधावंचित लोग हैं और अक्सर सामाजिक–आर्थिक दृष्टि से दलितों से बहुत भिन्न नहीं हैं) के बीच पाई जाने वाली घोर विषमताओं ने इस राजनीतिक श्रेणी की समस्याओं से निपटना बहुत कठिन बना दिया है। तथापि भूधारण और राजनीतिक

प्रतिनिधित्व को छोड़कर (जहाँ उनके विधायकों तथा सांसदों की संख्या काफी बढ़ी है), बाकी सभी क्षेत्रों में अन्य पिछड़े वर्गों का प्रतिनिधित्व काफी कम है। यद्यपि उच्च स्तर के अन्य पिछड़े वर्ग ग्रामीण क्षेत्र में अपना प्रभुत्व बनाए हुए हैं, लेकिन नगरीय अन्य पिछड़े वर्गों की स्थिति काफी खराब है, यानी उनकी स्थिति ऊँची जातियों की बजाय काफी हद तक अनुसूचित जातियों और जनजातियों जैसी ही है।

## आदिवासी संघर्ष

अनुसूचित जातियों की तरह ही, अनुसूचित जनजातियों को भी भारतीय संविधान द्वारा विशेष रूप से निर्धनता, शक्तिहीनता तथा सामाजिक लांछन से पीड़ित सामाजिक समूह के रूप में पहचाना गया है। जन या जनजातियों को ऐसा "वनवासी" समझा गया जिनके पहाड़ी या जंगली इलाकों के विशिष्ट परिस्थितियों में आवास ने उनकी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विशेषताओं को आकार दिया। लेकिन यह पारिस्थितिक पृथकता कहीं भी पूर्ण नहीं थी, अर्थात् वे एकदम अलग–थलग या सम्पर्कहीन नहीं थे। जनजातीय समूहों का हिन्दी समाज और संस्कृति से लम्बा और निकट का नाता रहा है, जिससे "जनजाति" और "जाति" के बीच की परिसीमाएँ काफी जीर्ण–शीर्ण हो गई हैं।

आदिवासियों के मामले में, उनकी आबादी के एक इलाके से दूसरे इलाके में आने–जाने से हालात और भी उलझ गये हैं। आज, पूर्वोत्तर राज्यों को छोड़कर, देश में ऐसा कोई इलाका नहीं है जहाँ केवल जनजातीय लोग ही रहते हों। सिर्फ ऐसे इलाके हैं जहाँ जनजातीय लोगों का जमावड़ा अधिक है। यानी उनकी आबादी घनी है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से अब तक बहुत–से गैर–जनजातीय लोग मध्य भारत के जनजातीय जिलों में जा बसे हैं और उन्हीं जिलों के जनजातीय लोग भी रोजगार की तलाश में बागानों, खानों तथा रोज़गार के अन्य स्थलों में चले गए हैं।

जिन इलाकों में जनजातीय लोगों की आबादी घनी है, वहाँ आमतौर पर उनकी आर्थिक और सामाजिक हालत, गैर–जनजातीय लोगों की अपेक्षा कहीं बदतर है। गरीबी और शोषण की जिन परिस्थितियों में आदिवासी अपना गुज़र–बसर करने के लिए मजबूर हैं, उनका ऐतिहासिक कारण यह रहा है कि औपनिवेशिक ब्रिटिश सरकार ने तेजी से जंगलों के संसाधनों को निकालना शुरु कर दिया और यह सिलसिला आगे स्वतंत्र भारत में भी जारी रहा। 19वीं सदी के परवर्ती दशकों से लेकर आगे भी औपनिवेशिक सरकार ने अधिकांश वन–प्रदेश अपने उपयोग के लिए आरक्षित कर लिए और आदिवासियों को वहाँ की उपज इकट्ठी करने और झूम खेती के लिए उनका उपयोग करने के अधिकारों से वंचित कर दिया। फिर तो इमारती लकड़ी का अधिकाधिक उत्पादन करने के लिए ही वनों का संरक्षण किया जाने लगा। इस नीति के चलते आदिवासियों से उनकी आजीविका के मुख्य आधार छीन लिए गए और इस प्रकार उनके जीवन को पहले की अपेक्षा अधिक अभावपूर्ण और असुरक्षित बना दिया गया। जब आदिवासियों से वनों की उपज और खेतों के लिए जमीन छिन गई तब वे या तो वनों का अवैध रूप से इस्तेमाल करने को मजबूर हो गए। (जिसके लिए उन्हें "घुसपैठिए" और चोर–उचक्के कहकर तंग और दण्डित किया जाने लगा) या फिर दिहाड़ी मजदूरी की तलाश में वन छोड़कर अन्यत्र चले गए।

1947 में भारत स्वतंत्र हो जाने के बाद, आदिवासियों की ज़िन्दगी आसान हो जानी चाहिए थी, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इसका एक कारण तो यह था कि वनों पर सरकार का एकाधिकार जारी रहा। यहाँ तक कि वनों के सन्दोहन (कटाई आदि) में और तेजी आ गई। दूसरे, भारत सरकार द्वारा अपनाई गई पूँजी–प्रधान औद्योगिकरण की नीति को कार्यान्वित करने के लिए खनिज संसाधनों और विद्युत उत्पाद की क्षमताओं की आवश्यकता थी और ये क्षमताएँ एवं संसाधन मुख्य रूप से आदिवासी क्षेत्रों में ही स्थित थे। नयी खनन और बाँध परियोजनाओं के लिए जल्दी से आदिवासी भूमियाँ अधिगृहीत कर ली गईं। इस प्रक्रिया में लाखों आदिवासियों को पर्याप्त मुआवजे एवं समुचित पुनर्वास की व्यवस्था किए बिना विस्थापित कर दिया गया। "राष्ट्रीय विकास" और "आर्थिक संवृद्धि" के नाम पर इस कार्य को न्यायोचित ठहराया गया। इस प्रकार इन नीतियों का पालन वास्तव में एक तरह का आन्तरिक उपनिवेशवाद ही था जिसके अन्तर्गत आदिवासियों को अधीन करके उनके

संसाधनों को, जिन पर वे निर्भर थे, छीन लिया गया। पश्चिमी भारत में नर्मदा नदी पर सरदार सरोवर बाँध और आन्ध्रप्रदेश में गोदावरी नदी पर पोलावरम बाँध बनाने की परियोजनाओं से लाखों आदिवासी विस्थापित हो जाएँगें, जो उन्हें पहले से अधिक अभावग्रस्त बना देगा। ये प्रक्रियाएँ लम्बे अरसे से चलती रही हैं और 1990 के दशक से तो और भी अधिक प्रबल हो गई हैं, जबसे भारत सरकार द्वारा आर्थिक उदारीकरण की नीतियाँ आधिकारिक रूप से अपनाई गई हैं। अब निगमित फर्मों के लिए आदिवासियों को विस्थापित करके बड़े–बड़े इलाके अधिगृहीत करना अधिक आसान हो गया है।

"दलित" शब्द की तरह "आदिवासी" शब्द भी राजनीतिक जागरूकता और अधिकारों की लड़ाई का सूचक बन गया है। इसका शाब्दिक अर्थ हैः "मूल निवासी" और इस शब्द को औपनिवेशिक सरकार और बाहरी बाशिन्दों तथा साहूकारों (ऋणदाताओं) द्वारा की जा रही घुसपैठ के विरूद्ध संघर्ष के अन्तर्गत 1930 के दशक में गढ़ा गया था। आदिवासी होने का मतलब स्वतंत्रता–प्राप्ति के समय से "विकास परियोजनाओं" के नाम पर आदिवासियों से वनों को छिन जाने, भूमि को अपहरण, बार–बार विस्थापन एवं अन्य कई और परेशानियों का सम्मिलित अनुभव है।

इन भारी विडम्बनाओं और उपेक्षाओं के बावजूद अनेक जनजातीय समूह बाहरी लोगों (जिन्हें "दिकू" कहा जाता है) और सरकार के विरुद्ध संघर्ष करते रहते हैं। स्वातंत्रयोत्तर भारत में आदिवासी आन्दोलनों की सर्वाधिक उल्लेखनीय उपलब्धियों में से एक है, झारखण्ड और छत्तीसगढ़ के लिए अलग राज्य का दर्जा प्राप्त करना। ये दोनों राज्य मूल रूप से क्रमशः बिहार और मध्य प्रदेश राज्यों के हिस्से थे। इस दृष्टि से आदिवासी और उनके संघर्ष दलित संघर्ष से भिन्न हैं, क्योंकि दलितों के विपरीत, आदिवासी संलग्न इलाकों में संकेन्द्रित थे, इसलिए वे अपने दिए अलग राज्य की मांग कर सके।

|||||||||

# इकाई– 3
# संवैधानिक उद्देश्य, मौलिक अधिकार

इस इकाई में हम अपने राष्ट्र के गठन के मूल उद्देश्यों जिन्हें संविधान के उद्देशिका में दर्ज़ किया गया का अध्ययन करेंगे। इसके साथ हमारे मौलिक अधिकारों पर भी चर्चा करेंगे। लोकतंत्र में शिक्षा व स्वास्थ्य की क्या भूमिका है यह भी देखेंगे।

पठन सामग्री क्र.– 15

# भारत का संविधान : उद्‌देशिका

lkekftd foKku] ykdrkf=d jktuhfr & 1] d{kk 9 ds fy, jktuhfr foKku dh ikB;iqLrd] jk"Vªh; 'kSf{kd vuqla/kku vkSj izf'k{k.k ifj"kn] 2006] i`"B&55

भारत के संविधान की “उद्‌देशिका” सामान्यतया अनेक कक्षाओं की पाठ्यपुस्तकों के कवर पृष्ठ के किसी हिस्से में छपी होती है, आपने इसे कई बार पढ़ा होगा। अपने स्कूली जीवन में भी किसी अध्याय के रूप में भी इसे पढ़ा होगा। इस बार इसे डी. एड. की पठन सामग्री के बतौर इस पर विस्तार से चर्चा कीजिए। इस उद्‌देशिका में आए विभिन्न शब्दों जैसे प्रभुत्व–सम्पन्न, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय आदि पर कक्षा में चर्चा कीजिए कि आखिर इनके क्या मायने हैं?

**ge Hkkjr ds yksx] Hkkjr dk--**
भारत के संविधान का निर्माण और अधिनियमन भारत के लोगों ने अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से किया है न कि इसे किसी राजा या बाहरी आदमी ने उन्हें दिया है।

**lektoknh**
समाज में सम्पदा सामूहिक रूप से पैदा होती है और समाज में उसका बँटवारा समानता के साथ होना चाहिए। सरकार ज़मीन और उद्योग–धन्धों की हकदारी से जुड़े कायदे–कानून इस तरह बनाए कि सामाजिक–आर्थिक असमानताएँ कम हों।

**iHkqRo&lEiUu**
लोगों को अपने से जुड़े हर मामले में फ़ैसला करने का सर्वोच्च अधिकार है। कोई भी बाहरी शक्ति भारत की सरकार को आदेश नहीं दे सकती।

**iaFk fujis{k**
नागरिकों को किसी भी धर्म को मानने की पूरी स्वतंत्रता है। लेकिन कोई धर्म आधिकारिक नहीं है। सरकार सभी धार्मिक मान्यताओं और आचरणों को समान सम्मान देती है।

**x.kjkT;**
शासन का प्रमुख लोगों द्वारा चुना हुआ व्यक्ति होगा न कि किसी वंश या राजखानदान का।

**Hkkjr dk lafo/kku**
**mn~ns'kdk**
ge] Hkkjr ds yksx] भारत को एक सम्पूर्ण
iHkqRo&lEiUu] lektoknh]
iaFk&fujis{k ykdrU=kRed
x.kjkT; बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को:
सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक U;k;]
विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
और उपासना की
Lora=rk]
प्रतिष्ठा और अवसर की lerk]
प्राप्त कराने के लिए,
तथा उन lc esa व्यक्ति की गरिमा और
jk"Vª dh ,drk vkSj v[k.Mrk
lqfuf'pr करने वाली
cU/kqrk बढ़ाने के लिए
दृढ़ संकल्प होकर viuh bl lafo/kku lHkk esa
आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई.
(मिति मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी)
को एतद्‌द्वारा इस lafo/kku dks vaxhd`r]
vf/kfu;fer vkSj vkRekfiZr djrs gSaA

**ykdrU=kRed**
सरकार का एक ऐसा स्वरूप जिसमें लोगों को समान राजनैतिक अधिकार प्राप्त रहते हैं, लोग अपने शासक का चुनाव करते हैं और उसे जवाबदेह बनाते हैं। यह सरकार कुछ बुनियादी नियमों के अनुरूप चलती है।

**U;k;**
नागरिकों के साथ उनकी जाति, धर्म और लिंग के आधार पर भेदभाव नहीं किया जा सकता।

**Lora=rk**
नागरिक कैसे सोचें, किस तरह अपने विचारों को अभिव्यक्त करें और अपने विचारों पर किस तरह अमल करें इस पर कोई अनुचित पाबन्दी नहीं है।

**Lkerk**
कानून के समक्ष सभी लोग समान हैं। पहले से चली आ रही सामाजिक असमानताओं को समाप्त होना होगा। सरकार हर नागरिक को समान अवसर उपलब्ध कराने की व्यवस्था करें।

**cU/kqrk**
हम सभी ऐसा आचरण करें जैसे कि हम एक परिवार के सदस्य हों। कोई भी नागरिक किसी दूसरे नागरिक को अपने से कमतर न माने।

यह भी सोचें कि बच्चों के किसी कक्षा में, समाज में इसके सही मायने तक पहुँचने में कैसे चूक होती है? तथा इसका क्या दूरगामी प्रभाव होता है या हो सकता है?

आगे “भारतीय समाज में मौलिक अधिकार” नामक पठन सामग्री में कक्षा में हुई चर्चा को आगे बढ़ाएँ।

|||||||||

## पठन सामग्री क्र.–16

Hkkjr dk lfo/kku] fl}kUr vkj 0;ogkj] d{kk 11oh ds fy, jktuhfr foKku dh iLrd] jkVh; 'kf{kd vulèkku vkj if'k{k.k ifjkn] 2006] iB& 28 ls 42-

**भारत का संविधान – "उद्देशिका" नामक पठन सामग्री को आपने पढ़ा, अब भारतीय नागरिकों को संविधान में प्रदत्त मौलिक अधिकारों के बारे में पढ़ें। इस सामग्री का "चयन भारत का संविधान, सिद्धान्त और व्यवहार," कक्षा 11वीं के लिए राजनीति विज्ञान की पुस्तक, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, 2006, पृष्ठ – 28 से 42. से किया गया है। इस पठन सामग्री में मौलिक अधिकारों का महत्व, अन्य अधिकारों से इनकी भिन्नता, दक्षिण अफ्रीका के संविधान में प्रदत्त अधिकारों से तुलना करने आदि का अवसर दिया है। इसके अलावा पाठकों को स्वयं अपनी समझ को पुख्ता करने का भी अवसर प्रदान किया गया है।**

**इस पठन सामग्री पर काम करने के पूर्व सर्वप्रथम मौलिक अधिकारों के बारे में जो जानते हैं उसका एक नोट तैयार करें, बताएँ कि संविधान की उद्देशिका के अनुसार समाज बनाने में नागरिकों को किस–किस प्रकार के अधिकार मिलने चाहिए? तत्पश्चात कक्षा में छोटे–छोटे समूहों में सामग्री को पढ़ें और कक्षा में प्रस्तुत करें।**

# भारतीय संविधान में मौलिक अधिकार

स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान, स्वतंत्रता आन्दोलन के नेताओं ने इन अधिकारों का महत्व समझा था और माँग की थी कि अँग्रेज़ शासकों को जनता के अधिकारों का आदर करना चाहिए। 1928 में ही मोतीलाल नेहरू समिति ने "अधिकारों के एक घोषणापत्र" की माँग उठाई थी। अतः यह स्वाभाविक था कि स्वतंत्रता के बाद संविधान निर्माण के दौरान संविधान में अधिकारों का समावेश करने और उन्हें सुरक्षित करने पर सभी की राय एक थी। संविधान में उन अधिकारों को सूचीबद्ध किया गया जिन्हें सुरक्षा देनी थी और उन्हें "मौलिक अधिकारों" की संज्ञा दी गई ।

जैसा कि नाम से स्पष्ट है "मौलिक अधिकार" अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और इसीलिए उन्हें संविधान में सूचीबद्ध किया गया है और उनकी सुरक्षा के लिए विशेष प्रावधान बनाए गए हैं। ये अधिकार इतने महत्वपूर्ण हैं कि संविधान स्वयं यह सुनिश्चित करता है कि सरकार भी उनका उल्लंघन न कर सके।

मौलिक अधिकार हमारे अन्य अधिकारों से भिन्न हैं। जहाँ साधारण कानूनी अधिकारों को सुरक्षा देने और लागू करने के लिए साधारण कानूनों का सहारा लिया जाता है, वहीं मौलिक अधिकारों की गारन्टी और उनकी सुरक्षा स्वयं संविधान करता है। सामान्य अधिकारों को संसद कानून बना कर परिवर्तित कर सकती है लेकिन मौलिक अधिकारों में परिवर्तन के लिए संविधान में संशोधन करना पड़ता है। इसके अलावा सरकार का कोई भी अंग मौलिक अधिकारों के विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकता। इस अध्याय में हम आगे पढ़ेंगे कि सरकार के कार्यों से मौलिक अधिकारों के हनन को रोकने की शक्ति और इसका उत्तरदायित्व न्यायपालिका के पास है। विधायिका या कार्यपालिका के किसी कार्य या निर्णय से यदि मौलिक अधिकारों का हनन होता है या उन पर अनुचित

प्रतिबन्ध लगाया जाता है तो न्यायपालिका उसे अवैध घोषित कर सकती है। लेकिन मौलिक अधिकार निरंकुश या असीमित अधिकार नहीं हैं। सरकार मौलिक अधिकारों के प्रयोग पर 'औचित्यपूर्ण' प्रतिबन्ध लगा सकती है।

---

**दक्षिण अफ्रीका के संविधान में अधिकारों का घोषणापत्र**

**दक्षिण अफ्रीका का संविधान दिसम्बर 1996 में लागू हुआ। इसे तब बनाया और लागू किया गया जब रंगभेद वाली सरकार के हटने के बाद दक्षिण अफ्रीका गृहयुद्ध के खतरे से जूझ रहा था। दक्षिण अफ्रीका के संविधान के अनुसार "उसके अधिकारों का घोषणापत्र दक्षिण अफ्रीका में प्रजातंत्र की आधारशिला है।" यह नस्ल, लिंग, गर्भधारण, वैवाहिक स्थिति, जातीय या सामाजिक मूल, रंग, आयु अपंगता, धर्म, अन्तरात्मा, आस्था, संस्कृति, भाषा और जन्म के आधार पर भेदभाव वर्जित करता है। यह नागरिकों को सम्भवतः सबसे ज़्यादा व्यापक अधिकार देता है। संवैधानिक अधिकारों को एक विशेष संवैधानिक न्यायालय लागू करता है।**

**दक्षिण अफ्रीका के संविधान में सम्मिलित कुछ प्रमुख अधिकार निम्न हैं –**

1. **गरिमा का अधिकार**
2. **निजता का अधिकार**
3. **श्रम–सम्बन्धी समुचित व्यवहार का अधिकार**
4. **स्वास्थ्यप्रद पर्यावरण और पर्यावरण संरक्षण का अधिकार**
5. **समुचित आवास का अधिकार**
6. **स्वास्थ्य सुविधाएँ, भोजन, पानी और सामाजिक सुरक्षा का अधिकार**
7. **बाल अधिकार**
8. **बुनियादी और उच्च शिक्षा का अधिकार**
9. **सांस्कृतिक, धार्मिक और भाषाई समुदायों का अधिकार**
10. **सूचना प्राप्त करने का अधिकार**

---

## कहाँ पहुँचे? क्या समझे?

भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों की तुलना दक्षिण अफ्रीका के संविधान में दिए गए अधिकारों के घोषणापत्र से करें। उन अधिकारों की एक सूची बनाएँ जो –

1. दोनों संविधानों में पाए जाते हों
2. दक्षिण अफ्रीका में हों पर भारत में नहीं।
3. दक्षिण अफ्रीका के संविधान में स्पष्ट रूप से दिए गए हैं पर भारतीय संविधान में निहित माने जाते हैं।

## समता का अधिकार

निम्न दो स्थितियों पर विचार करें। ये काल्पनिक स्थितियाँ हैं। पर ऐसी बातें होती रहती हैं और आगे भी हो सकती हैं। क्या आपको इनमें मौलिक अधिकारों का उल्लंघन दिखाई देता है?

- स्वदेश कुमार अपने गाँव गया। उसके साथ उसका एक दोस्त भी था। गाँव के एक होटल में उन्हें चाय पीने की इच्छा हुई। दुकानदार स्वदेश कुमार को जानता था, पर उसके मित्र की जाति जानने के लिए उसने उसका नाम पूछा। उसके बाद दुकानदार ने स्वदेश कुमार को तो एक सुन्दर कप में चाय दी, लेकिन उसके दोस्त को कुल्हड़ में चाय दी क्योंकि वह दलित था।

- टेलीविजन के एक चैनल में समाचार पढ़ने वाले कुल दस सदस्यों में से केवल चार को यह आदेश दिया गया कि आगे से वे समाचार न पढ़ें। वे सभी महिलाएँ थीं। इसका कारण यह बताया गया कि वे सभी 45 वर्ष की उम्र को पार कर चुकी हैं लेकिन इस अवस्था को पार कर चुके दो पुरुषों पर यह प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया।

ये भेदभाव के स्पष्ट उदाहरण हैं। एक में जाति और दूसरे में लिंग के आधार पर भेदभाव किया गया। आपकी राय में क्या ऐसा भेदभाव उचित है?

"समता का अधिकार" ऐसे और अन्य प्रकार के भेदभाव को समाप्त करने का प्रयास करता है। यह सार्वजनिक स्थलों – जैसे दुकान, होटल, मनोरंजन स्थल, कुआँ, स्नान घाट और पूजास्थलों में समानता के आधार पर प्रवेश देता है। जाति, नस्ल, रंग, लिंग, धर्म या जन्मस्थान के आधार पर प्रवेश में कोई भेदभाव नहीं हो सकता। यह उपर्युक्त आधारों पर लोक सेवाओं में भी कोई भेदभाव वर्जित करता है। यह अधिकार बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि पहले हमारे समाज में इन जगहों पर सबके साथ समान बरताव नहीं होता था।

छुआछूत की प्रथा असमानता का सबसे भद्दा रूप है। समता के अधिकार के द्वारा इसे समाप्त कर दिया गया। इसी अधिकार के अंतर्गत यह भी व्यवस्था की गई है कि केवल उन लोगों को छोड़कर जिन्होंने सेना या शिक्षा के क्षेत्र में गौरवपूर्ण उपलब्धि प्राप्त की है, राज्य किसी भी व्यक्ति को कोई उपाधि प्रदान नहीं करेगा। इस प्रकार समता का अधिकार भारत को एक सच्चे लोकतंत्र के रूप में स्थापित करने का प्रयास करता है। जिसमें सभी नागरिकों को समान प्रतिष्ठा व गरिमा प्राप्त हो सके।

क्या आपने अपने संविधान की प्रस्तावना पढ़ी है? यह समानता को कैसे परिभाषित करता है? आप पाएँगे कि प्रस्तावना में समानता

के बारे में दो बातों का उल्लेख हैः प्रतिष्ठा की समानता और अवसर की समानता। अवसर की समानता का अर्थ है कि समाज के सभी वर्गों को समान अवसर मिले। लेकिन जब समाज में अनेक सामाजिक विषमताएँ व्याप्त हों, तो वहाँ समान अवसरों का क्या मतलब हो सकता है? संविधान स्पष्ट करता है कि सरकार बच्चों, महिलाओं तथा सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों की बेहतरी के लिए विशेष योजनाएँ तथा निर्णय लागू कर सकती है। आपने नौकरियों और स्कूलों में प्रवेश के लिए "आरक्षण" के बारे में अवश्य सुना होगा। आपको सम्भवतया आश्चर्य भी हुआ होगा कि समानता के सिद्धान्त का पालन करने के बावजूद यहाँ "आरक्षण" क्यों है?

अनुच्छेद 16(4) – "इस अनुच्छेद की कोई बात राज्य को पिछड़े हुए नागरिकों के किसी वर्ग के पक्ष में, जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्य के अधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के आरक्षण का प्रावधान करने से नहीं रोकेगी।"

वास्तव में संविधान का अनुच्छेद 16(4) साफ–साफ कहता है कि आरक्षण जैसी नीति को समानता के अधिकार के उल्लंघन के रूप में नहीं देखा जा सकता। यदि आप संविधान देखें तो आप पाएँगे कि "अवसर की समानता" के अधिकार को पूरा करने के लिए यह ज़रूरी है।

### आप एक न्यायाधीश हैं –

आप को उड़ीसा के पुरी ज़िले के दलित समुदाय के एक सदस्य हादिबन्धु का एक पोस्टकार्ड मिलता है। उसमें लिखा है कि उसके समुदाय के पुरुषों ने उस प्रथा का पालन करने से इंकार कर दिया, जिसके अनुसार उन्हें उच्च जातियों के विवाहोत्सव में दूल्हे और सभी मेहमानों के पैर धोने पड़ते थे। इसके बदले उस समुदाय की चार महिलाओं को पीटा गया और उन्हें निर्वस्त्र करके घुमाया गया। पोस्टकार्ड लिखने वाले के अनुसार "हमारे बच्चे शिक्षित हैं और वे उच्च जातियों के पुरुषों के पैर धोने, विवाह में भोज के बाद जूठन हटाने और बर्तन माँजने का परम्परागत काम करने को तैयार नहीं हैं।" यह मानते हुए कि उपर्युक्त तथ्य सही है, आपको निर्णय करना है कि क्या इस घटना में मौलिक अधिकारों का उल्लघंन हुआ है? आप इसमें सरकार को क्या करने का आदेश देंगे?

"अनुच्छेद 21 – जीवन और दैहिक स्वतंत्रता का संरक्षण किसी व्यक्ति को, उसके प्राण या दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा अन्यथा नहीं।"

## स्वतंत्रता का अधिकार

किसी भी लोकतंत्र में समता और स्वतंत्रता सबसे महत्वपूर्ण अधिकार हैं। इनमें से एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। स्वतंत्रता का अर्थ है चिन्तन, अभिव्यक्ति और कार्य करने की स्वतंत्रता। लेकिन स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं है कि हम जैसा चाहें वैसा करने लगें। यदि ऐसा करने की इजाजत दे दी जाए तो बहुत सारे लोग अपनी स्वतंत्रता का आनन्द उठाने से वंचित हो जाएँगे। अतः स्वतंत्रता को इस प्रकार परिभाषित किया जाता है कि बिना किसी अन्य की स्वतंत्रता को नुकसान पहुँचाएँ और बिना कानून–व्यवस्था को ठेस पहुँचाए, प्रत्येक व्यक्ति अपनी–अपनी स्वतंत्रता का आनन्द ले सके।

## जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार

स्वतंत्रता के सबसे महत्वपूर्ण अधिकारों में "जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार" है। किसी भी नागरिक को कानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया का पालन किये बिना उसके जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ है कि किसी भी व्यक्ति को बिना कारण बताए गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। गिरफ्तार किए जाने पर उस व्यक्ति को अपने पसन्दीदा वकील के माध्यम से अपना बचाव करने का अधिकार है। इसके अलावा, पुलिस के लिए यह आवश्यक है कि वह अभियुक्त को 24 घण्टे के अन्दर निकटतम न्यायाधीश के सामने पेश करें। न्यायाधीश ही इस बात का निर्णय करेगा कि गिरफ्तारी उचित है या नहीं।

क्या इसका मतलब यह है कि कुछ ऐसे मामले भी हो सकते हैं जिनमें कानून एक आदमी की ज़िन्दगी ले सकता है? यह तो अज़ीब बात हैं। क्या आपको कोई ऐसा मामला याद आता हैं?

इस अधिकार द्वारा किसी व्यक्ति के जीवन को मनमाने ढंग से समाप्त करने के विरूद्ध ही गारण्टी नहीं मिलती बल्कि इसका दायरा और भी व्यापक है। सर्वोच्च न्यायालय के पिछले अनेक निर्णयों द्वारा इस अधिकार का दायरा बढ़ा है। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार इसमें शोषण से मुक्त और मानवीय गरिमा से पूर्ण जीवन जीने का अधिकार अन्तर्निहित है। न्यायालय ने माना कि "जीवन के अधिकार" का अर्थ है कि व्यक्ति को आश्रय और आजीविका का भी अधिकार हो क्योंकि इसके बिना कोई व्यक्ति जिन्दा नहीं रह सकता।

## निवारक नज़रबन्दी

सामान्यतः किसी व्यक्ति को अपराध करने पर गिरफ्तार किया जाता है। पर इसके अपवाद भी हैं। कभी–कभी किसी व्यक्ति को इस आशंका पर भी गिरफ्तार किया जा सकता है, कि वह कोई गैर–कानूनी कार्य करने वाला है और फिर उसे वर्णित प्रक्रिया का पालन किए बिना ही कुछ समय के लिए जेल भेजा जा सकता है। इसे ही निवारक नज़रबन्दी कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि सरकार को लगे कि कोई व्यक्ति देश की कानून–व्यवस्था या शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरा बन सकता है, तो वह उसे बन्दी बना सकती है। लेकिन निवारक नज़रबन्दी अधिकतम 3 महीने के लिए ही हो सकती है। तीन महीने के बाद ऐसे मामले समीक्षा के लिए एक सलाहकार बोर्ड के समक्ष लाए जाते हैं।

प्रत्यक्ष रूप से निवारक नज़रबन्दी सरकार के हाथ में असामाजिक तत्वों और राष्ट्र विद्रोही तत्वों से निपटने का एक हथियार है। अनेक लोग यह मानते हैं कि इस कानून में कुछ ऐसे सुरक्षात्मक उपाय किए जाने चाहिए जिससे सामान्य नागरिकों के विरूद्ध अन्य किसी कारण से इसके दुरूपयोग को रोका जा सके। वास्तव में जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकारों तथा निवारक नज़रबन्दी के प्रावधानों में परस्पर विरोधाभास है।

## अन्य स्वतंत्रताएँ

आप देख सकते हैं कि "स्वतंत्रता के अधिकार" के अन्तर्गत कुछ और अधिकार भी हैं। पर इनमें से कोई भी अधिकार निरंकुश नहीं है। इनमें से प्रत्येक के प्रयोग पर सरकार कुछ प्रतिबन्ध लगा सकती है।

उदाहरण के लिए "भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता" पर कानून–व्यवस्था, शान्ति और नैतिकता के आधार पर प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं। सभा और सम्मेलन करने की स्वतंत्रता का प्रयोग करने पर यह शर्त है कि वह शान्तिपूर्ण तथा बिना हथियारों के हो। सरकार किसी क्षेत्र में पाँच या पाँच से अधिक लोगों की सभा पर प्रतिबन्ध लगा सकती है। प्रशासन इस शक्ति का आसानी से दुरूपयोग कर सकता है। वह सरकार के किसी कार्य या नीति के विरूद्ध जनता को न्यायोचित विरोध–प्रदर्शन करने की अनुमति देने से मना कर सकता है। लेकिन जनता अपने अधिकारों के प्रति सजग ओर सतर्क हो और प्रशासन के ऐसे कार्यों का विरोध करे तो इसके दुरूपयोग की सम्भावना कम हो जाती है। संविधान सभा में भी कुछ सदस्यों ने अधिकारों को प्रतिबन्धित करने पर अपना असन्तोष जताया था।

"मैं समझता हूँ कि इनमें से अनेक मौलिक अधिकारों को एक सिपाही के दृष्टिकोण से बनाया गया है। आप देखेंगे कि काफी कम अधिकार दिए गए हैं और प्रत्येक अधिकार के बाद एक उपबन्ध जोड़ा गया है। लगभग प्रत्येक अनुच्छेद के बाद एक उपबन्ध है जो उस अधिकार को पूरी तरह से वापस ले लेता है।.... मौलिक अधिकारों की हमारी क्या अवधारणा होनी चाहिए?.... हम उस प्रत्येक अधिकार को संविधान में पाना चाहते हैं जो हमारी जनता चाहती है।"

सोमनाथ लाहिड़ी, संविधान सभा वाद–विवाद, खण्ड तीन पृष्ठ 404

## आरोपी या अभियुक्त के अधिकार

हमारा संविधान इसका भी प्रावधान करता है कि जिन लोगों पर विभिन्न अपराधों के आरोप हैं उन्हें भी पर्याप्त सुरक्षा मिले। हम प्रायः ऐसा विश्वास कर लेते हैं कि जिस पर भी किसी अपराध का आरोप लगता है वह दोषी है। लेकिन जब तक न्यायालय किसी व्यक्ति को किसी अपराध का दोषी नहीं ठहराता तब तक उसे दोषी नहीं माना जा सकता। यह भी ज़रूरी है कि किसी अपराध के आरोपी को स्वयं को बचाने का समुचित अवसर मिले। न्यायालय में निष्पक्ष मुकदमे के लिए संविधान तीन अधिकारों की व्यवस्था करता है–

1. किसी भी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए एक बार से ज़्यादा सज़ा नहीं मिलेगी,
2. कोई भी कानून किसी भी ऐसे कार्य को जो उक्त कानून के लागू होने से पहले किया गया हो, अपराध घोषित नहीं कर सकता।
3. किसी भी व्यक्ति को स्वयं अपने विरूद्ध साक्ष्य देने के लिए नहीं कहा जा सकेगा।

## कहाँ पहुँचे? क्या समझे?

क्या आप मानते हैं कि निम्न परिस्थितियाँ स्वतंत्रता के अधिकार पर प्रतिबन्ध की माँग करती हैं? अपने उत्तर के समर्थन में तर्क दें –

(क) शहर में साम्प्रदायिक दंगों के बाद लोग शान्ति मार्च के लिए एकत्र हुए हैं।

(ख) दलितों को मन्दिर में प्रवेश की मनाही है। मन्दिर में जबर्दस्ती प्रवेश के लिए एक जुलूस का आयोजन किया जा रहा है।

(ग) सैकड़ों आदिवासियों ने अपने परम्परागत अस्त्र तीर–कमान और कुल्हाड़ी के साथ सड़क जाम कर रखा है। वे माँग कर रहे हैं कि एक उद्योग के लिये अधिग्रहीत खाली जमीन उन्हें लौटाई जाए

( घ) किसी जाति की पंचायत की बैठक यह तय करने के लिए बुलाई गई कि जाति से बाहर विवाह करने के लिए नवदंपति को क्या दण्ड दिया जाए।

## शोषण के विरूद्ध अधिकार

अपने देश में करोड़ों लोग गरीब, दलित–शोषित और वंचित हैं या लोगों के द्वारा उनका शोषण हो सकता है। ऐसे शोषण को हम अपने देश में "बेगार" या "बन्धुआ–मज़दूरी" के रूप में जानते हैं। इसी प्रकार के एक शोषण में लोगों को "दास" के रूप में खरीदा और बेचा जाता था। इन दोनों प्रकार के शोषणों पर संविधान प्रतिबन्ध लगाता है। पुराने समय में ज़मींदार, सूदखोर और अन्य धनी लोग "बन्धुआ मज़दूरी" करवाते थे। देश में अभी भी, खास तौर से भट्ठे के काम में बन्धुआ–मज़दूरी करवाई जाती है। अब इसे अपराध घोषित कर दिया गया है और यह कानून द्वारा दण्डनीय है।

इस फोटो में आपको किस मौलिक अधिकार का उल्लंघन दिखाई देता हैं?

संविधान के अनुसार 14 वर्ष से कम उम्र के बच्चों को किसी कारखाने, खदान या अन्य किसी खतरनाक काम में नौकरी नहीं दी जा सकती। इस प्रकार बाल श्रम को अवैध बनाकर और शिक्षा को बच्चों का मौलिक अधिकार बनाकर शोषण के विरूद्ध संवैधानिक अधिकार को और अर्थपूर्ण बनाया गया है।

## धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार

अपने संविधान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पसन्द के धर्म का पालन करने का अधिकार है। इस स्वतंत्रता को लोकतंत्र का प्रतीक माना जाता है। इतिहास गवाह है कि दुनिया के अनेक देशों के शासक और राजाओं ने अपने–अपने देश की जनता को धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार नहीं दिया। शासकों से अलग धर्म को मानने वाले लोगों को या तो मार डाला गया या विवश किया गया कि वे शासकों द्वारा मान्य धर्म को स्वीकार कर लें। अतः लोकतंत्र में अपनी इच्छा के अनुसार धर्म पालन करने की स्वतंत्रता को हमेशा एक बुनियादी सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया है।

## आस्था और प्रार्थना की स्वतंत्रता

भारत में प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म चुनने और उसका पालन करने का अधिकार है। धार्मिक स्वतंत्रता में अन्तःकरण की स्वतंत्रता भी समाहित है। इसका अर्थ है कि कोई व्यक्ति किसी भी धर्म को चुन सकता है या यह निर्णय ले सकता है कि वह किसी भी धर्म का पालन नहीं करेगा। धार्मिक स्वतंत्रता का अर्थ यह भी है कि सभी व्यक्तियों को अपने धर्म को अबाध रूप से मानने, उसके अनुसार आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा। लेकिन धार्मिक स्वतंत्रता पर कुछ प्रतिबन्ध भी है। लोक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य के आधार पर सरकार धार्मिक स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगा सकती है। धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार असीमित नहीं है। कुछ सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए सरकार धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप कर सकती है। उदाहरण के तौर पर सरकार ने सती प्रथा, एक से अधिक विवाह और मानव–बलि जैसी कुप्रथाओं पर प्रतिबन्ध के लिए अनेक कदम उठाए हैं। ऐसे प्रतिबन्धों को धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार में हस्तक्षेप नहीं माना जा सकता।

धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार पर नियंत्रण लगाने से विभिन्न धर्म के मानने वालों और सरकार के बीच अक्सर ही तनावपूर्ण स्थितियाँ पैदा होती हैं। जब भी किसी धार्मिक समुदाय के कुछ क्रियाकलापों पर सरकार नियंत्रण लगाती है, तो उस समुदाय के लोग यह महसूस करते हैं कि यह उनके धर्म में एक तरह का हस्तक्षेप है।

एक अन्य कारण से भी धार्मिक स्वतंत्रता राजनीतिक विवाद का विषय बन जाती है। संविधान ने सभी को अपने धर्म का प्रचार करने की स्वतंत्रता दी है। इसमें लोगों को एक धर्म से दूसरे धर्म में परिवर्तन के लिए मनाने का अधिकार भी शामिल है। लेकिन कुछ लोग धर्म परिवर्तन का विरोध करते हैं। उनका मानना है कि धर्मान्तरण भय

या लालच के आधार पर कराए जाते हैं। संविधान भी जबरन धर्म–परिवर्तन की इजाजत नहीं देता, वह हमें केवल अपने धर्म के बारे में सूचनाएँ प्रसारित करने का अधिकार देता है जिससे हम दूसरों को अपने धर्म की ओर आकर्षित कर सकें।

## सभी धर्मों की समानता

विभिन्न धर्मावलम्बियों का देश होने के कारण यह ज़रूरी है कि सरकार विभिन्न धर्मों के साथ समानता का बर्ताव करे। इसका अर्थ यह भी है कि सरकार किसी धर्म–विशेष का पक्ष नहीं लेगी। भारत का कोई राजकीय धर्म नहीं है। भारत के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, न्यायाधीश या अन्य किसी सार्वजनिक पद पर कार्य करने के लिए हमारा किसी धर्म–विशेष का सदस्य होना ज़रूरी नहीं है। समानता के अधिकार के अन्तर्गत भी हमने देखा कि सभी नागरिकों को इस बात की गारण्टी दी गई है कि सरकारी नौकरियों में नियुक्ति के सम्बन्ध में सरकार धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं करेगी। राज्य द्वारा संचालित शैक्षणिक संस्थाओं में न तो किसी धर्म का प्रचार किया जाएगा, न ही कोई धार्मिक शिक्षा दी जाएगी और न ही उसमें प्रवेश के लिए किसी धर्म को वरीयता दी जाएगी। इन प्रावधानों से धर्म निरपेक्षता को जीवन और बल मिलता है।

## खुद करें खुद सीखें

अपने गाँव या शहर में होने वाली सार्वजनिक धार्मिक गतिविधियों की सूची बनाएँ।
इनमें से कौन–कौन सी गतिविधियाँ धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार का प्रयोग दिखलाती हैं?
इस पर चर्चा करें कि यदि आपके क्षेत्र में लोगों को यह अधिकार नहीं होता, तो क्या होता?

## सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकार

सरदार हुकुम सिंह, संविधान सभा वाद–विवाद खण्ड आठ, पृष्ठ. 322

जब हम भारतीय समाज की बात करते हैं तो हमारे मन में विविधता की छवि उभरती है। भारतीय समाज कोई समरूप समाज नहीं है वरन् उसमें काफी विविधता है। ऐसे विविधता भरे समाज में कुछ समुदाय संख्या में छोटे और कुछ बड़े हैं। क्या ऐसी स्थिति में अल्पसंख्यक समुदाय को बहुसंख्यक समुदाय की संस्कृति स्वीकार करनी पड़ेगी?

“बहुसंख्यकों पर एक गम्भीर उत्तरदायित्व है कि वे देखें कि अल्पसंख्यक सुरक्षित महसूस करें।.... केवल एक धर्म निरपेक्ष शासन में ही अल्पसंख्यक सुरक्षित रहेंगे। उनके लिए राष्ट्रवादी होना लाभकारी है। बहुसंख्यकों को अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण का दिखावा नहीं करना चाहिए।..... उन्हें स्वयं को अल्पसंख्यकों की स्थिति में रखकर उनकी आशंकाओं को समझना चाहिए। सुरक्षा की सभी माँगें उसी आशंका पर आधारित हैं, जो अल्पसंख्यकों के मन में अपनी भाषा, लिपि और नौकरियों के अवसर के सम्बन्ध में हैं।

हमारा संविधान मानता है कि “विविधता” हमारे समाज की मज़बूती है। अतः अल्पसंख्यकों का अपनी संस्कृति को बनाए रखने का अधिकार भी एक मौलिक अधिकार है। किसी समुदाय को केवल धर्म के आधार पर नहीं बल्कि भाषा और संस्कृति के आधार पर भी अल्पसंख्यक माना जाता है। अल्पसंख्यक वह समूह है जिसकी अपनी एक भाषा या धर्म होता है और देश के किसी एक भाग में या पूरे देश में संख्या के आधार पर वह किसी अन्य समूह से छोटा होता है। ऐसे अल्पसंख्यक समूहों को अपनी भाषा, लिपि और संस्कृति को सुरक्षित रखने और उसे विकसित करने का अधिकार है।

भाषाई या धार्मिक अल्पसंख्यक अपने शिक्षण संस्थान खोल सकते हैं। ऐसा करके वे अपनी संस्कृति को सुरक्षित और विकसित कर सकते हैं। शिक्षण संस्थाओं को वित्तीय अनुदान देने के मामले में सरकार इस आधार पर भेदभाव नहीं करेगी कि उस शिक्षण संस्थान का प्रबन्ध किसी अल्पसंख्यक समुदाय के हाथ में है।

## संवैधानिक उपचारों का अधिकार

इस बात से हर कोई सहमत होगा कि हमारे संविधान में मौलिक अधिकारों की सूची बड़ी आकर्षक है। लेकिन अधिकारों की विस्तृत सूची देना ही काफी नहीं। कोई ऐसा तरीका होना चाहिए जिससे उन्हें व्यवहार में लाया जा सके और उल्लंघन होने पर अधिकारों की रक्षा की जा सके।

"संवैधानिक उपचारों का अधिकार" वह साधन है जिसके द्वारा ऐसा किया जा सकता है। डॉ. अम्बेडकर ने इस अधिकार को "संविधान का हृदय और आत्मा" की संज्ञा दी। इसके अन्तर्गत हर नागरिक को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपने मौलिक अधिकारों के उल्लंघन की स्थिति में सीधे उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए सरकार को आदेश और निर्देश दे सकते हैं। न्यायालय कई प्रकार के विशेष आदेश जारी करते हैं। जिन्हें प्रादेश या रिट कहते हैं।

- **बन्दी प्रत्यक्षीकरण–** बन्दी प्रत्यक्षीकरण के द्वारा न्यायालय किसी गिरफ्तार व्यक्ति को न्यायालय के सामने प्रस्तुत करने का आदेश देता है। यदि गिरफ्तारी का तरीका या कारण गैरकानूनी या असन्तोषजनक हो, तो न्यायालय गिरफ्तार व्यक्ति को छोड़ने का आदेश दे सकता है।

- **परमादेश–** यह आदेश तब जारी किया जाता है जब न्यायालय को लगता है कि कोई सार्वजनिक पदाधिकारी अपने कानूनी और संवैधानिक दायित्वों का पालन नहीं कर रहा है और इससे किसी व्यक्ति का मौलिक अधिकार प्रभावित हो रहा है।

मैं अपने मुहल्ले में तो अल्संख्यक हूँ पर शहर में बहुसंख्यक। भाषा के हिसाब से तो अल्पसंख्यक हूँ लेकिन धर्म के लिहाज से मैं बहुसंख्यक हूँ! क्या हम सभी अल्पसंख्यक नहीं हैं?

- **निषेध आदेश**– जब कोई निचली अदालत अपने अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण करके किसी मुकदमे की सुनवाई करती है तो ऊपर की अदालत (उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय) उसे ऐसा करने से रोकने के लिए "निषेध आदेश" जारी करती है।

- **अधिकार पृच्छा**– जब न्यायालय को लगता है कि कोई व्यक्ति ऐसे पद पर नियुक्त हो गया है जिस पर उसका कोई कानूनी हक नहीं है तब न्यायालय 'अधिकार पृच्छा आदेश' के द्वारा उसे उस पद पर कार्य करने से रोक देता है।

- **उत्प्रेषण रिट**– जब कोई निचली अदालत या सरकारी अधिकारी बिना अधिकार के कोई कार्य करता है, तो न्यायालय उसके समक्ष विचाराधीन मामले को उससे लेकर उत्प्रेषण द्वारा ऊपर की अदालत या अधिकारी को हस्तांतरित कर देता है।

बाद में इन अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायपालिका के अलावा कुछ और संरचनाओं का भी निर्माण किया गया। आपने राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग, राष्ट्रीय महिला आयोग, राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग आदि के बारे में सुना होगा। ये संस्थाएँ क्रमशः अल्पसंख्यकों, महिलाओं और दलितों के अधिकारों की रक्षा करती हैं। इसके अतिरिक्त, मौलिक अधिकारों और अन्य अधिकारों की रक्षा करने के लिए कानून द्वारा राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग का भी गठन किया गया है।

## मानवाधिकार आयोग

किसी भी संविधान द्वारा प्रदान किए गए अधिकारों की असली पहचान तब होती है जब उन्हें लागू किया जाता है। समाज के गरीब, अशिक्षित और कमज़ोर तबके के लोगों को अपने अधिकारों को प्रयोग करने की स्वतंत्रता

होनी चाहिए। पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज ( पी. यू. सी. एल.) या पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स ( पी.यू.डी.आर.) जैसी संस्थाएँ अधिकारों के हनन के विरूद्ध चौकसी करती हैं। इस परिप्रेक्ष्य में वर्ष 2000 में सरकार ने राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग का गठन किया।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग में सर्वोच्च न्यायालय का एक पूर्व मुख्य न्यायाधीश, किसी उच्च न्यायालय का एक पूर्व मुख्य न्यायाधीश तथा मानवाधिकारों के सम्बन्ध में ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव रखने वाले दो और सदस्य होते हैं।

मानवाधिकार के उल्लंघन की शिकायत मिलने पर राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग स्वयं अपनी पहचान पर या किसी पीड़ित व्यक्ति की याचिका पर जाँच कर सकता है। जेलों में बंदियों की स्थिति का अध्ययन करने जा सकता है, मानवाधिकार के क्षेत्र में शोध कर सकता है, या शोध को प्रोत्साहित कर सकता है।

आयोग को प्रतिवर्ष हज़ारों शिकायतें मिलती हैं। इनमें से अधिकतर हिरासत में मृत्यु, हिरासत के दौरान बलात्कार, लोगों के गायब होने, पुलिस की ज़्यादतियों, कार्यवाही न किए जाने, महिलाओं के प्रति दुर्व्यवहार आदि से सम्बन्धित होती हैं। मानवाधिकार आयोग का सबसे प्रभावी हस्तक्षेप पंजाब में युवकों के गायब होने तथा गुजरात दंगों के मामले में जाँच के रूप में रहा। आयोग को स्वयं मुकदमा सुनने का अधिकार नहीं है। यह सरकार या न्यायालय को अपनी जाँच के आधार पर मुकदमा चलाने की सिफारिश कर सकता है।

।।।।।।।।।

## पठन सामग्री क्र.–17

# आर्थिक विकास एवं सामाजिक अवसर

**भारत विकास की दशाएँ; अमर्त्य सेन, ज़्याँ द्रीज़; राजपाल प्रकाशन, दिल्ली 2007; पृष्ठ– 19 से 24.**

**यह पठन सामग्री *भारत विकास की दशाएँ*, अमर्त्य सेन व ज़्याँ द्रीज़, राजपाल प्रकाशन, दिल्ली 2007, पृष्ठ– 19 से 24 से ली गई है। इस पठन सामग्री में मुख्य रूप से बताया गया है कि विकास का अर्थशास्त्र सिर्फ आय में वृद्धि होना भर नहीं है बल्कि इसके अलावा भी बहुत कुछ है। साथ ही इस बात पर बल दिया गया है कि मानवीय योग्यताओं एवं क्षमताओं का संवर्धन सही मायने में विकास के अर्थशास्त्र को दर्शाता है और मानवीय योग्यताओं एवं क्षमताओं के संवर्धन में शिक्षा एवं स्वास्थ्य महत्वपूर्ण मुद्दे हो जाते हैं।**

**यह सामग्री पहली बार पढ़ने में आपको कठिन ज़रुर लगेगी पर कक्षा में छोटे–छोटे समूहों में अपने साथियों के साथ चर्चा करना तथा कक्षा में अपनी समझ को प्रस्तुत कर अन्य साथियों एवं समूहों की राय लेना, आपकी समझ को पुख्ता करने में अवश्य ही सहायक होगी।**

### विकास, स्वतंत्रता एवं अवसर

द्वितीय महायुद्ध के तुरन्त बाद जब विकास की समस्याओं पर केन्द्रित अर्थशास्त्र अपना स्वतंत्र अस्तित्व बना रहा था, तो उस पर कुछ पुराने प्रभावों की झलक साफ दिखाई पड़ रही थी। उदाहरण के लिए 'प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में संवृद्धि' के दुराग्रह से यह विकास अर्थशास्त्र भी मुक्त नहीं था।

### आय की वृद्धि या मनचाहा जीवन जीने की स्वतंत्रता?

अर्थशास्त्र की स्थापना करने वाले चिन्तक एडम स्मिथ व जान स्टुअर्ट मिल ने तो वास्तविक आय की संवृद्धि पर बहुत कुछ लिखते हुए भी आय को किन्हीं महत्त्वपूर्ण उद्‌देश्यों की प्राप्ति के अनेक माध्यमों में से एक माना था। उन्होंने उन महत्त्वपूर्ण उद्‌देश्यों पर भी बहुत खुलकर विचार व्यक्त किए हैं तथा वे विचार यह स्पष्ट कर देते हैं कि वे उद्‌देश्य केवल आय से किस प्रकार भिन्न हैं।

ये विद्वान इस बात को लेकर बहुत सजग थे कि अच्छे जीवन–यापन के अवसरों की रचना में आय एवं सम्पत्ति के अतिरिक्त "उन कार्यों को कर पाने की हमारी क्षमता जिन्हें हम महत्त्वपूर्ण मानते हैं" पर बहुत बल दिया गया है। इस प्रकार से जीवन को अपनी इच्छानुसार जी पाने की स्वतंत्रता किसी अन्य लक्ष्य की प्राप्ति का माध्यम मात्र नहीं होकर स्वयं अपने आप में महत्त्वपूर्ण हो जाती है। उन्होंने इन बातों तथा आय, सम्पत्ति एवं अन्य आर्थिक दशाओं पर बहुत खुलकर टिप्पणियाँ की हैं और आधारभूत आवश्यकताओं की संवर्धनकारी सार्वजनिक नीतियों के बारे में भी बहुत कुछ बताया है। जिन परिवर्तनों को हम आज आर्थिक विकास का अंग मानते हैं – यहाँ तक कि नेहरू द्वारा निर्धारित आर्थिक योजनाओं की सूची – उनसे भी मिल या स्मिथ का कोई मतभेद नहीं होता।

### गरीबी यानी योग्यताओं से वंचित होना–

हाल के वर्षों में आर्थिक विकासशास्त्र भी विकास को केवल आय की दृष्टि से नहीं बल्कि एक बहुआयामी दृष्टि

से देखने लगा है। विकास को देखने के एक नज़रिए के अनुसार विकास का मतलब है नागरिकों की उस स्वतंत्रता में वृद्धि जिसकी मदद से वे अपने मनभावन उद्देश्यों की सम्प्राप्ति के लिए प्रयास कर सकते हैं। इस सन्दर्भ में मानवीय योग्यता के प्रसार को विकास की प्रक्रिया का एक केन्द्रीय लक्षण माना जाना चाहिए।

किसी व्यक्ति के जीवन को उसके द्वारा किए गए कार्यों की एक श्रृंखला, या उन जीवन दशाओं जिन्हें वह व्यक्ति पा लेता है, के रूप में देखा जा सकता है। इन्हें ही व्यक्ति के कृत्यों एवं अवस्थाओं का अथवा उसकी कृत्यकारिताओं (functioning) का समुच्च्य माना जा सकता है। योग्यता (Capability) से हमारा अभिप्राय कृत्यकारिताओं के वैकल्पिक समूहों में से चयन कर पाने की व्यक्ति की क्षमता से ही है। इस प्रकार योग्यता का विचार स्वतंत्रता के विचार से ही जुड़ा हुआ है। यहाँ उसका सम्बन्ध इस बात से है कि व्यक्ति के सामने जीवनशैली के कितने विकल्प खुले हैं। इस परिवेश में जीवन की दुशवस्था का अभिप्राय केवल व्यक्ति की गरीबी ही नहीं, बल्कि सामाजिक, वैयक्तिक बाधाओं के कारण जीवन शैली के चयन के वास्तविक अवसरों के अभाव से भी है। कम आय, अति अल्प सम्पत्ति आदि आर्थिक गरीबी के सहज चिह्न भी अन्ततः इसी कारण से यहाँ महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं कि उनके कारण योग्यताएँ – अर्थात् वंचित जीवन शैली का चयन कर पाने की क्षमता – दुष्प्रभावित होती हैं। अतः गरीबी तो अन्ततः योग्यता से वांछित रह जाना ही है।

इस निबन्ध में हम गरीबी के इस व्यापक अर्थ को अपने विश्लेषण का आधार मानकर चलेंगे – जब हम गरीबी और सामान्य जीवन–यापन करने की योग्यता (बीमारी व अकाल मृत्यु या निरक्षरता से मुक्त जीवन जीने की स्वतंत्रता) की चर्चा करेंगे। हम बार–बार गरीबी शब्द का प्रयोग भले ही न करें पर अभाव, वंचना एवं जीवन की दुरावस्था हमारी इसी चिन्ता के द्योतक हैं। जहाँ कहीं हम गरीबी के सामान्य स्वरूप (अर्थात् आय की कमी आदि) की चर्चा करेंगे, वहाँ भी हमारा मुख्य सरोकार तो इस कमी के कारण योग्यता प्राप्ति से वंचित रह जाने से ही होगा।

## नीतियों के मूल्यांकन का आधार

आधुनिक काल में विकास साहित्य का मुख्य ध्यान आर्थिक संवृद्धि अर्थात् सकल राष्ट्रीय उत्पाद आदि की वृद्धि पर ही केन्द्रित रहा है – इसमें मानवीय योग्यताओं एवं क्षमताओं के संवर्धन को कभी पूरी तरह दृष्टिगत नहीं किया गया। आर्थिक संवृद्धि निश्चित रूप से मानवीय क्षमताओं को बढ़ा देती है। फिर भी यहाँ दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक हैः (1) मानवीय क्षमता संवर्धन (Development of Human Capabilities) पर आर्थिक संवृद्धि के अतिरिक्त और अनेक कारकों के भी प्रभाव पड़ते हैं; तथा (2) योग्यता के संवर्धन पर संवृद्धि के प्रभाव भी अनेक बातों द्वारा निर्धारित होंगे, जैसे कि क्या आर्थिक संवृद्धि की प्राप्ति से रोज़गार–सृजन में बहुत अधिक वृद्धि हुई है? अथवा क्या आर्थिक उन्नति के फलों का उपयोग समाज के सबसे पिछड़े वर्गों के अभावों एवं वंचनाओं को कम करने के लिए हुआ है, आदि?

कहने का तात्पर्य यही है कि अन्ततः हमें विभिन्न नीतियों का मूल्यांकन इसी आधार पर करना होगा कि क्या उनसे जनसामान्य को सुलभ योग्यताओं का संवर्धन हो रहा है अथवा नहीं (यह संवर्धन चाहे आय की संवृद्धि के माध्यम से हो या अन्यथा)। यह दृष्टिकोण उस विचार से सर्वथा भिन्न है जिसमें वास्तविक आय की संवृद्धि को ही (अपने आप में) माना जाता है। इस प्रकार की विश्लेषण विधि (आय की संवृद्धि पर केन्द्रित) के औचित्य के प्रति शंका व्यक्त करने का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि मानवीय योग्यता/क्षमता संवर्धन में आय की संवृद्धि का कोई योगदान नहीं होता। हमारा मन्तव्य तो लक्ष्य एवं उसे प्राप्त करने के माध्यमों का सुस्पष्ट निरूपण करना ही है।

भारत तथा अन्य अनेक देशों में आजकल शासनतंत्र के हस्तक्षेप से मुक्त बाज़ार की नीतियों के पक्ष में दी जा रही दलीले मुख्यतः आर्थिक प्रसार अथवा देश में उत्पादन एवं आय को बढ़ाने से ही जुड़ी हैं। लेकिन उत्पादन और आय पर ध्यान देने का औचित्य ही इस बात पर आधारित रहता है कि इनकी संवृद्धि से व्यक्ति की वांछित जीवन–यापन की स्वतंत्रता का संवर्धन होता है। आर्थिक विकास के विश्लेषण में इन दोनों कारणों पर ध्यान दिया

जाना चाहिए। यही नहीं, उन नीतियों एवं संस्थागत परिवर्तनों पर भी गौर होना चाहिए जिनसे मानवीय योग्यताएँ बढ़ती हैं। विकास कार्यक्रम की सफलता का मानदण्ड केवल उत्पादन एवं आय की वृद्धि नहीं हो सकता, इसमें तो लोगों के सहज जीवन–यापन स्तर पर बल दिया जाना चाहिए। विश्व में किसी भी देश के विकास कार्यक्रम के मूल्यांकन की भाँति ही यह कथन भारत जैसे देश में चल रहे आर्थिक सुधारों एवं नीतियों के मूल्यांकन–विश्लेषण पर भी समान रूप से लागू होगा।

## शिक्षा एवं स्वास्थ्य के मुद्दे

आर्थिक अवसर का लाभ उठाने की क्षमता तथा अन्य स्वतंत्रताओं को प्रभावित करने (अथवा उनका संवर्धन/अपवर्धन करने) वाले तत्वों का भी अपना महत्व है। जैसे कि शिक्षा एवं स्वास्थ्य स्वातंत्र्य संवर्धन में सहायक होते हैं। आर्थिक विकास से सम्बद्ध साहित्य में इन दो 'सामाजिक' कारकों के आर्थिक प्रगति में सहायक स्वरूप पर अब काफी चर्चा होने लगी है।

आज के युग में सभी आर्थिक विकास में प्राथमिक शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हैं – फिर भी भारत में इस बात की अनदेखी होना बहुत ही आश्चर्य की बात है। जाने क्यों आर्थिक नीतियों में भारी परिवर्तन के बाद भी आर्थिक विकास के शिक्षा सम्बन्धी आयामों पर अभी भी ध्यान नहीं दिया जा रहा है? यही स्थिति स्वास्थ्य सेवाओं की भी है। यही नहीं, भगवती एवं श्रीनिवासन (1993) का आर्थिक सुधार सम्बन्धी अतिरोचक विश्लेषण भी इन मुद्‌दों (शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं का आर्थिक विकास पर प्रभाव) पर चुप्पी ही साध गया। आधार–निर्माण (Infrastructure) के बारे में भी उनकी चर्चा केवल परिवहन व्यवस्था और विद्युत उत्पादन तक ही सीमित रह गई। भारत के योजना तंत्र में रह गए एक असन्तुलन को दूर कर पाने का यह अवसर भी गँवा दिया गया। असल बात तो यही है कि विद्वान आर्थिक सुधारों का अपना ही स्वतंत्र अस्तित्व मानने के भ्रम के शिकार हो चले हैं। वे उन्हें सामाजिक नीतियों की विफलताओं का निराकरण करने से जोड़ने का प्रयास ही नहीं करते – अर्थात् यह माँग ही नहीं उठाई जाती कि संकुचित आर्थिक परिवर्तनों के साथ–साथ सामाजिक कार्यक्रमों, विशेषकर प्राथमिक शिक्षा में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन लाए जाने चाहिए।

शिक्षा एवं स्वास्थ्य कम–से–कम पाँच प्रकार से व्यक्ति के स्वातंत्र्य संवर्धन में बहुमूल्य सिद्ध हो सकते हैं :

(1) **अन्तर्निहित महत्वः–** शिक्षित एवं स्वस्थ होना अपने आप में ही बहुत मूल्यवान है। शिक्षा एवं स्वास्थ्य के सम्पन्न हो पाने का अवसर सहज ही व्यक्ति के स्वातंत्र्य को प्रभावी बना देता है।

(2) **वैयक्तिक रूप से सहायकः–** शिक्षित एवं स्वस्थ होने के कारण ही व्यक्ति अन्य अनेक प्रकार के कार्य भी सरलता से कर पाने में सफल होता है। वे सभी कार्य (एवं उन्हें कर पाना) भी (मनुष्य के जीवन–यापन की दृष्टि से) अत्यन्त महत्वशाली होते हैं। उदाहरण के रूप में, उनके (शिक्षा एवं स्वास्थ्य के) आधार पर व्यक्ति रोज़गार पा सकता है या अन्य आर्थिक अवसरों का लाभ उठा सकता है। इस प्रकार आय एवं आर्थिक संसाधनों की संवृद्धि से वह व्यक्ति उन कृत्यकारिताओं की प्राप्ति में सफल हो सकता है जिन्हें वह बहुमूल्य मानता रहा है।

(3) **सामाजिक रूप से सहायकः–** साक्षरता एवं प्राथमिक शिक्षा के प्रसार से समाज में स्वास्थ्य सेवाओं और सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था की आवश्यकता आदि के विषय में आर्थिक सारपूर्ण विचार–मंथन एवं उनकी माँग का मार्ग प्रशस्त होता है। इनके माध्यम से जनसामान्य की सहज सुलभ सुविधाओं का विस्तार होगा और वर्तमान सुविधाओं का कहीं बेहतर प्रयोग भी सम्भव हो पाएगा।

(4) **प्रक्रियाओं में सहायकः–** विद्यालयीन शिक्षा की प्रक्रिया के शिक्षण के अतिरिक्त अन्य लाभ भी हो सकते हैं। अक्सर बाल–मजदूरी की चक्की में वही बच्चे फँसे होते हैं जिन्हें शिक्षा तंत्र से बाहर रहने की विवशता झेलनी पड़ी हो। यदि शिक्षा व्यवस्था का समुचित एवं प्रभावी प्रसार हो तो भारत में व्याप्त बाल–मज़दूरी की दुखदाई दशा पर भी नियंत्रण पाया जा सकेगा। विद्यालय में आकर बच्चे परस्पर मिल–जुलकर भी

बहुत कुछ सीखते हैं – उनके सोच, समझ का (और व्यवहार का) दायरा विस्तृत होता है। यह बात बालिकाओं के विषय में बहुत अधिक महत्वपूर्ण है।

**(5) सामर्थ्यवर्धन एवं पुनर्वितरण में सहायकः–** समाज के पिछड़े हुए वर्ग की साक्षरता में सुधार एवं शिक्षा सम्बन्धी उपलब्धियाँ उनमें दमन का सामना करने की क्षमता को बढ़ाने में सहायक होती हैं। वे राजनीतिक दृष्टि से संगठित हो अपनी दशा सुधारने के प्रयास कर सकते हैं। संसाधनों के पुनर्वितरण की दृष्टि से तो शिक्षा का महत्व और गहराई तक जाता है – यह पुनर्वितरण समाज के वर्गों या फिर परिवारों तक ही सीमित नहीं रहता – बल्कि परिवार के भीतर भी नर–नारी के बीच (बेटा–बेटी के बीच) विषमता की खाई को पाटने में शिक्षा (विशेषकर स्त्री–शिक्षा) का बहुत महत्वपूर्ण योगदान रहता है।

ये प्रभाव उन्हीं व्यक्तियों तक सीमित नहीं रह जाते जिन्हें शिक्षा एवं स्वास्थ्य लाभ का अवसर मिला है। इनके प्रभाव समाज के अन्य सदस्यों पर भी पड़ते हैं। कितनी ही बार एक साक्षर व्यक्ति दूसरों को प्रचार पत्र आदि पढ़कर सुनाता या फिर किसी सार्वजनिक घोषणा का अर्थ समझाता मिल जाता है, अर्थात् उसके अक्षर ज्ञान से वह स्वयं ही नहीं, अन्य भी लाभान्वित होते हैं। इस प्रकार व्यक्तियों के बीच के सम्पर्क सूत्र राजनीतिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हो सकते हैं। समाज के किसी वर्ग या जाति के लोगों के बीच में (उसी वर्ग के) शिक्षित लोग यदि सक्रियतापूर्वक कार्य करें तो उस जाति अथवा वर्ग के बीच अग्र एवं पश्चगामी अन्तर्सम्बन्धों के कारण एक व्यक्ति द्वारा किसी आर्थिक अवसर का लाभ उठाना अन्य अनेक के लिए लाभ का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। व्यापक सामाजिक चयन (Social Choice) विधा से हटकर हम शिक्षा के योगदान का सही मूल्यांकन नहीं कर पाएंगे। इसी प्रकार स्वास्थ्य को लेकर भी हमें मरणशीलता, रोगों से बचाव एवं उपचार आदि में अनेक प्रकार की बाह्यताएं (Externalities) प्राप्त होती हैं।[2] दूसरे शब्दों में, शिक्षा एवं स्वास्थ्य, दोनों ही के प्रभाव तात्कालिक रूप से लाभान्वित हो रहे व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहते, उनका समाज में व्यापक असर होता है।

इस प्रकार के पारस्परिक सम्बन्धों के कारण आर्थिक विकास की प्रक्रिया में शिक्षा एवं स्वास्थ्य का महत्व अधिक हो जाता है। शिक्षा एवं स्वास्थ्य से जुड़ी सार्वजनिक नीतियों की अपर्याप्तता ही पिछली आधी शताब्दी में भारत में विकास प्रयासों की सीमित उपलब्धियों की व्याख्या कर सकने के लिए काफी रहेगी। केवल उदारीकरण एवं नियंत्रण तंत्र में ढील देने पर मौलिक नीतिगत सुधार पिछली आयोजन व्यवस्था में रह गई इन त्रुटियों को कदापि दूर नहीं कर पाएँगे।

निष्पादन में बाधक सरकारी नियंत्रणों की समाप्ति से अनेक व्यक्तियों को नए अवसर सुलभ हो सकते हैं, किन्तु निरक्षरता एवं रोगग्रस्त आदि की परिस्थितियों (जिनके कारण समाज का बहुत बड़ा वर्ग उचित अवसरों? का लाभ उठाने से वंचित रह जाता है) को सुधारने में ये सुधार पर्याप्त नहीं होंगे। आवश्यक है कि इनके साथ–साथ जनस्वास्थ्य एवं शिक्षा नीतियों में भी आमूलचूल परिवर्तन लाए जाएँ। यदि हम आर्थिक विकास को सामाजिक अवसरों के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखना–समझना चाहते हैं और इन परिप्रेक्ष्यों के अन्तर्निहित एवं सहयोगी योगदान का महत्व जानते हैं, तो फिर, शिक्षा और स्वास्थ्य तथा सामाजिक, आर्थिक विकास के अन्तर्सम्बन्धों की अनदेखी कदापि नहीं कर पाएँगे।

|||||||||

[2] यहाँ अभिप्राय यही है कि शिक्षा द्वारा सारे समाज में व्यक्तियों एवं समूहों की चयन क्षमता एवं कुशलता में वृद्धि होती है। इसी प्रकार स्वास्थ्य व्यवस्था में भी लाभ किसी व्यक्ति विशेष तक सीमित नहीं रहते। घर में एक व्यक्ति के बीमार पड़ने पर परिवार के अन्य सदस्यों की कार्यक्षमता पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है। यदि रोग संक्रामक हो तो फिर यह दुष्प्रभाव औरों की बीमारी का रूप भी धारण कर लेता है। अतः स्वस्थता–अस्वस्थता भी समाजव्यापी हो जाती है।

# इकाई– 4
# अँग्रेज़ी शासन काल में शिक्षा व्यवस्था

इस इकाई में हम सन् 1760 में अँग्रेज़ी शासन की स्थापना से पहले की शिक्षा व्यवस्था 1800 के बाद विकसित औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था पर विचार करेंगे।

## क– अँग्रेज़ – पूर्व शिक्षा व्यवस्था

## पठन सामग्री क्र.– 18

# प्राक्–ब्रिटिश काल में देशज शिक्षा

अँग्रेज़ों के आगमन के भारत में भारत में शिक्षा व्यवस्था कैसी थी? प्रायः अभी भी ज़्यादातर लोग अपने घर व पड़ोस में बड़ों के साथ रहकर, उनके साथ काम करते व खेलते हुए शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। विभिन्न विद्याओं के गुरू भी थे जिनके पास रहकर विद्या सीखी जाती थी। लेकिन मध्यकाल में इनके अलावा एक और व्यवस्था बनी जिसे हम ग्रामीण पाठशाला कह सकते हैं। इसमें एक गरीब पढ़े–लिखे व्यक्ति को गाँव के लोग अपने गाँव में बसाते थे। वह अपने घर की दहलीज पर शाला चलाता था जिसमें 15–20 लड़के पढ़ते थे। इन शालाओं में लिखना–पढ़ना, हिसाब करना व कुछ नीति कथा व कवितायें सिखायी जाती थीं। आमतौर पर इनमें स्थानीय भाषा ही सिखाई जाती थी। संस्कृत व फारसी सीखने के लिए विशिष्ट लोगों के लिए टोल या मदरसे भी थे।

प्रस्तुत लेख परमेश आचार्य द्वारा बंगाल में 18वीं सदी में प्रचलित शिक्षा व्यवस्था का अध्ययन है। इसे उनकी किताब **देशज शिक्षा औपनिवेशिक विरासत और जातीय** विकल्प अनुवाद अनिल राजिमवाले, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन 2000, नई दिल्ली से लिया गया है।

### परम्पराएँ और समस्याएँ

इस अध्याय में बंगाल में प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में ब्रिटिश शिक्षा–प्रणाली लागू होने से पहले स्थानीय भाषा में दी जाने वाली शिक्षा के स्वरूप और उसकी व्यापकता पर विचार किया गया है। इस समस्या को तत्कालीन ग्रामीण समाज के ढाँचे और देशी व्यवस्था में कमज़ोर तबकों की हिस्सेदारी के सन्दर्भ में रखा गया है।

बंगाल के लगभग सभी जिलों में मदरसा नामक फारसी और अरबी स्कूल तथा टोल नामक संस्कृत स्कूल थे। उच्चतर शिक्षा के इन स्कूलों की देखभाल ज़मींदारों एवं धनी हिन्दुओं तथा मुसलमानों के दान से की जाती थी। आमतौर पर छात्रों को कोई खर्च नहीं उठाना पड़ता था, हालाँकि उन्हें अपनी शिक्षा पूरी करने के लिए करीब बारह वर्षों की लम्बी अवधि तक स्कूल में रहना पड़ता था। ऐसे छात्रों के लिए, जिन्हें रहने की जगह की ज़रूरत थी अर्थात् जो आना–जाना नहीं कर सकते थे, मुफ्त रहने–खाने की व्यवस्था के साथ उन्हें शिक्षा मुफ्त दी जाती थी।

संस्कृत स्कूलों के पाठ्यक्रम में हिन्दू कानून, तर्कशास्त्र और साहित्य अर्थात स्मृति, न्याय, काव्य और अंलकार शामिल थे। फारसी और अरबी स्कूलों में मुख्यतः मुस्लिम कानून और इस्लामी धर्मशास्त्र अर्थात् कुरान, तफसीर, हदीस और फिक्ह पढ़ाए जाते थे। फारसी स्कूलों में कुछ साहित्यिक एवं ऐतिहासिक रचनाएँ भी शामिल थीं, जैसे मन्दनामेह, अमेदनामेह, गुलिस्तान, यूसुफ और ज़ुलेखा, सिंकदरनामेह और अबुल फज़ल इत्यादि।

उच्चतर शिक्षा के इन हिन्दू और मुस्लिम स्कूलों के पाठ्यक्रमों से पता चलता है कि उनका मेहनतकशों के वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। इन्हें पूरा करने के लिए वे इतना अधिक वक्त स्कूलों में बिताने की स्थिति में नहीं थे। सिर्फ वही वर्ग ऐसा कर सकता था जिसके पास इतना वक्त था। परम्परागत संस्कृत का अध्ययन और विकास ब्राह्मणों के लिए ज़रूरी था क्योंकि उन्हें हिन्दू समुदाय के सामाजिक जीवन में अपनी

विशेषाधिकार वाली स्थिति बनाए रखनी थी। उधर फारसी शिक्षा की ज़रूरत उन्हें भी थी जो सरकारी नौकरी के इच्छुक थे या उच्च समाज में विशेष स्थान की इच्छा रखते थे।

इन व्यवस्थाओं के साथ–साथ देशी शिक्षा की अन्य व्यवस्था प्रचलित थी। इसे मुख्यतः व्यापारी और खेतीहर वर्ग चलाते थे। 1835 में डब्ल्यू. एडम ने स्थानीय भाषा–भाषी और संस्कृत स्कूलों में कोई भी सम्बन्ध या "पारस्परिक निर्भरता" नहीं पाई उन स्कूलों के बीच जो आम लोगों के लिए थे और वे अन्य स्कूल जो पढ़े–लिखे वर्गों के लिए थे। वे दो अलग–अलग किस्म की संस्थाएँ हैं जो अलग–अलग वर्गों या समाज के लिए हैं – एक व्यापारी और खेतिहर वर्ग के लिए, तो दूसरा धार्मिक तथा पढ़े–लिखे वर्गों के लिए है। पाठशालाएँ और मकतब प्रथम किस्म के वर्गों के लिए थे जबकि टोल और मदरसा दूसरे किस्म के वर्गों के लिए।

तालिका 1 : कायस्थ शिक्षकों का अनुपात

| जिला | शिक्षकों की कुल संख्या | कायस्थ जाति | दूसरी जातियाँ |
|---|---|---|---|
| मुर्शिदाबाद | 67 | 39 | 28 |
| बीरभूम | 412 | 256 | 156 |
| बर्दवान | 639 | 369 | 270 |
| दक्षिण बिहार | 285 | 278 | 7 |
| तिरहुत | 82 | 77 | 3 |
| कुल | 1483 | 1019 | 464 |

उन्नीसवीं सदी के प्रथम दशक में फ्रांसिस बुकानन हैमिलटन का अवलोकन है कि, "हिन्दू और मुसलमान दोनों ही प्रारम्भिक शिक्षा छोटे स्कूलों में देते हैं जिन्हें पाठशाला कहा जाता है; इनमें पढ़ाने वाले को गुरू कहा जाता है जो किसी भी जाति या धर्म के हो सकते हैं.... समाज के इन उपयोगी सदस्यों के लिए जीवनयापन की कोई सार्वजनिक व्यवस्था नहीं है और वे अपनी जीविका के लिए पूरी तरह अपने छात्रों पर निर्भर होते हैं। वे आगे कहते हैं: बच्चे आमतौर पर पाँच वर्ष की आयु में स्कूल जाते हैं, और उन्हें एक ही समय पढ़ना और लिखना सिखाया जाता है, और यह बड़ी अच्छी व्यवस्था दिख पड़ती है।"

इसी समय डब्ल्यू. वार्ड ने लिखा "बंगाल के लगभग सारे बड़े गाँवों में सामान्य स्कूल होते हैं।" वे आगे कहते हैं: "ग्रामीण स्कूलों मे जीवन की समस्याओं के सम्बन्ध में चिन्ता दिखाई देती थी।" पाठशालाओं में पाठ्यक्रमों एवं विषयों तथा पढ़ाने के तरीकों के बारे में डब्ल्यू. वार्ड कहते हैं: "सरल अक्षरों के बाद छात्र संयुक्ताक्षर लिखते हुए, सभी छात्र दिन में दो बार खड़े होकर क्लास के मोनीटर की देखरेख में पहले तो इकाई–दहाई–सैकड़ा–हज़ार... इत्यादि याद करते हैं फिर वे एक से सौ तक गिनते हैं और इसके बाद केले के हरे पत्तों पर वे पैसों से सम्बन्धित आसान जोड़–घटाव करते हैं और फिर गुणा–भाग और पैसों तथा वजन सम्बन्धी हिसाब–किताब। हिन्दू बटखरे रत्ती से शुरू होकर मन तक जाते हैं। पाठ्यक्रम के अन्त में बड़े लड़के सामान्य पत्र लिखना, आवेदन लिखना, इत्यादि सीखते हैं।"

वार्षिक या अन्तिम परीक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। लेकिन लालबिहारी दे की रचना "रिफ्लेक्शंस ऑफ माय स्कूल–डेज" (स्कूल के दिनों की मेरी यादें) में एक प्रकार की परीक्षा या जाँच का उल्लेख मिलता है। उन्होनें लिखा हैं, "मैं एक प्रकार की दैनिक परीक्षा का उल्लेख करना चाहूँगा, जो समूचे क्षेत्र में हुआ करती और जिसे हम लड़के घोष कहा करते। एक बड़े परिवार या कई परिवारों के लड़के हर शाम एक चण्डीमण्डप या बैठकखाना में एक जगह इकटठा किए जाते। यह किसी बुजुर्ग, आम तौर पर पिता या चाचा या ऐसे ही किसी व्यक्ति की देखरेख में कमरे में होती और उनसे आमतौर पर गणित के बारे में सवाल पूछे जाते।" उन्हें इस तरह के सवाल

पूछे जाते, जैसे "मान लो एक पैसे में यदि नौ केले मिलते हैं, तो पचास केले कितने में मिलेंगे?" सवाल बुजुर्ग इन लड़कों से पूछते और लड़कों को "सारा हिसाब दिमाग में ही करना होता क्योंकि न उनके पास स्लेटें होतीं, न कागज़, न कलम।"

इससे साफ जाहिर होता है कि जाँच का काम शिक्षक नहीं, अभिभावक किया करते थे। फलस्वरूप शिक्षक, अभिभावक और छात्र, सभी शिक्षा–प्रक्रिया में शामिल हो जाते थे। शिक्षा–प्रक्रिया में अभिभावकों की हिस्सेदारी से एक ऐसा अनुकूल वातावरण बनता था जिसमें शिक्षक एवं छात्र दोनों ही हमेशा सचेत रहते। लेकिन इस बारे मे शक है कि ग्रामीण समाज के निम्नतम तबकों– अर्थात् अछूतों, खेतिहर मज़दूरों और गरीब रैयतों के भी अभिभावकों को अपने बच्चों की शिक्षा में दिलचस्पी थी या वे इसमें भाग लेने की क्षमता रखते थे। सम्भव है, उन्हें चण्डीमण्डप या बैठकखाना में होने वाले घोष में ऊपरी जातियों के छात्रों के साथ बैठने की अनुमति नहीं थी और वे अपने बूते पर ऐसी बैठकें आयोजित कर सकने में असमर्थ थे।

आमतौर पर हिन्दू बच्चों को पाँच या छह वर्ष की उम्र से हाथखड़ी सिखाई जाती, और उसी प्रकार मुस्लिम बच्चों को चार वर्ष, चार महीने और चार दिनों की उम्र से बिस्मिल्ला की रस्म से भर्ती की जाती।

आमतौर पर पाठशालाएँ किसी उपयुक्त केन्द्रीय स्थान में स्थित बरवारीघर, चण्डीमण्डप या बरगद या बकुल पेड़ के नीचे लगतीं और मकतब आमतौर पर गाँव की मस्ज़िदों से जुड़े होते। देशी शिक्षा प्रणाली की विशषताएँ इस प्रकार थीं:

1. बाहर से नियंत्रण करने वाली कोई केन्द्रीय अफसरशाही नहीं थी।
2. न ही कोई समान परीक्षा–व्यवस्था।
3. देशी भाषा–भाषी स्कूल आमतौर पर एक शिक्षक वाली संस्थाएँ थीं। अध्यापक आम तौर पर छात्रों से थोड़ी सी फीस या ग्रामीणों द्वारा समय–समय पर दी जाने वाली सहायता के सहारे जीवनयापन करते थे।
4. ऐसा लगता है कि शिक्षक पढ़ाई की खास परम्पराओं और तरीकों का पालन करते थे, जिनमें एक स्थान से दूसरे में बहुत कम अन्तर हुआ करता। लेकिन शायद शिक्षकों की क्षमता पर आधारित स्तर में फर्क पड़ जाता था।
5. लिखने के चार मुख्य तरीके थे :
    - ज़मीन पर लिखना,
    - ताड़ के पन्नों पर लिखना,
    - केले के पत्तों पर लिखना, और
    - कागज़ पर लिखना।
6. इन स्कूलों में आमतौर पर "तीन आर" पढ़ाए जाते थे जिनका ज़ोर लिखने और गणित पर हुआ करता।

पाठशालाओं और मकतबों के बीच फिर भी कुछ अन्तर थे। यह दिलचस्प बात है कि शुरुआती यूरोपीय दर्शकों ने पाठशाला के जनतांत्रिक एवं धर्म निरपेक्ष चरित्र पर गौर किया। जहाँ प्राचीन हिन्दू शिक्षा व्यवस्था बौद्ध विचारधारा के प्रभाव से जनतांत्रिक बनी, वहीं पाठशाला का तंत्र शायद मुस्लिम काल के प्रभाव से धर्मनिरपेक्ष बना। बंगाल के ग्रामीण स्कूलों में अक्सर ही मुस्लिम शिक्षक और छात्र पाए जा सकते थे। एडम के अनुसार, "बीरभूम और बर्दवान में ग्रामीण पाठशालाओं में 13 मुस्लिम शिक्षक और 1001 मुस्लिम छात्र थे।"

सतीश चन्द्र मित्र ने अपनी पुस्तक "जेसोट खुलनार इतिहास" ( जेसोट खुलनार इतिहास अनु.) में कहा है कि पठान युग का अन्त आते–आते पाठशालाओं में मुस्लिम शिक्षक निपुण हो चुके थे। वे आगे कहते हैं कि "बुरान परगना" का एक मुस्लिम बरनीर खान पाठशाला के शिक्षक के रूप में प्रसिद्ध हो गया था।

मकतब अपना धार्मिक स्वरूप बरकरार रखे हुए थे, जबकि पाठशाला निरंतर धर्मनिरपेक्ष बनती जा रही थी। उत्तर भारत के मकतबों और सिन्ध के मुल्ला स्कूलों ने हमेशा ही आध्यात्मिक शिक्षा पर ज़ोर दिया है। यह गैर–धर्मनिरपेक्ष चरित्र मुख्यतः मुल्लाओं और मुस्लिम धार्मिक उपदेशकों के कारण था, क्योंकि मकतब आमतौर

पर गाँव की मस्जिदों से जुड़े हुए थे, और इसलिए यह माना जा सकता है कि इन धार्मिक उपायों से उस वक्त का शासक वर्ग मुस्लिम समुदाय की एकता बनाए रखना चाहता था। साथ ही यह जनता को निष्क्रिय रखने का भी एक प्रभावशाली तरीका था। जे. एम. सेन अपनी रचना हिस्टरी आफ इलिमेंट्री एजुकेशन इन इंडिया (भारत में प्राथमिक शिक्षा का इतिहास –अनु.) में कहते हैं: "मुस्लिम और सिख स्कूलों (गुरूमुखी स्कूलों) में आध्यात्मिक शिक्षा पर इस जोर को छोड़कर हिन्दू, मुसलमान और सिख स्कूलों के बीच लगभग कोई अन्तर नहीं रह जाता।"

यह स्पष्ट है कि देशी भाषा–भाषी शिक्षा व्यवस्था देश की केन्द्रीय सत्ता द्वारा तैयार की गई किसी सोची–समझी व्यवस्था पर आधारित नहीं थीं, और न ही किसी ऐसी बाहरी सत्ता से नियंत्रित थी। यह एक विकेन्द्रित व्यवस्था थी।

ये सभी स्कूल जिनमें स्कूल शिक्षकों का अपना स्थान था स्वयं ग्रामीण लोगों द्वारा चलाए जा रहे थे। यह पहलू महत्वपूर्ण है क्योंकि जैसे कि बाद में हम पाएँगे यह शिक्षा व्यवस्था इसी के कारण जीवन्त बनी रही।

**तलिका 2 : फारसी स्कूलों में शिक्षक और छात्र**

| | फारसी और अरबी स्कूलों में शिक्षक | | फारसी और अरबी स्कूलों में छात्र | |
|---|---|---|---|---|
| जिला | हिन्दू | मुस्लिम | हिन्दू | मुस्लिम |
| मुर्शिदाबाद | – | 19 | 62 | 47 |
| बीरभूम | 5 | 68 | 245 | 254 |
| बर्दवान | 7 | 101 | 452 | 519 |
| दक्षिण बिहार | 1 | 290 | 867 | 619 |
| तिरहुत | 1 | 237 | 470 | 128 |
| कुल | 14 | 715 | 2096 | 1567 |

ब्रिटिश व्यवस्था स्थानीय व्यवस्था में स्वतः स्फूर्तता का यह पहलू समझने में असमर्थ रही। फलस्वरूप वह जनता से अलग–थलग पड़ गई। ब्रिटिश शासकों द्वारा लागू की गई प्राथमिक शिक्षा ऊपर से लादी गई थी। इसे राज्य सरकार सीधे तौर पर, नियंत्रित और प्रशासित करती थी; एक ऐसी सत्ता के सहारे जो देश की जनता के लिए विदेशी थी। फलस्वरूप स्थानीय पहल लुप्त हो गई।

यह देखना आवश्यक है कि निम्नलिखित अर्थों में स्थानीय प्राथमिक शिक्षा कितनी व्यापक थी:

1. शिक्षा के अवसर अर्थात् स्कूलों की संख्या और उनका वितरण,
2. जनता के विभिन्न तबकों की उस व्यवस्था में हिस्सेदारी।

शिक्षा सम्बन्धी अवसरों के बारे में डब्ल्यू. वार्ड का उन्नीसवीं सदी के प्रथम दशक में अवलोकन था कि "बंगाल के लगभग सभी बड़े गाँवों में सामान्य स्कूल हैं।" इस सम्बन्ध में इस प्रदेश के जजों और मजिस्ट्रेटों 1801–02 में अपनी जाँच दर्ज की और वे वार्ड की प्रस्थापना की पुष्टि करते हैं। उन्होंने यह भी पाया कि बांग्ला पढ़ाने के लिए ग्रामीण स्कूलों की व्यापक व्यवस्था थी और निम्न स्थितियों के बच्चों का भी वे उल्लेख करते हैं। डब्ल्यू. एडम अपने फर्स्ट रिपोर्ट आन द स्टेट आफ एजुकेशन इन बेंगाल (बंगाल में शिक्षा की स्थिति पर प्रथम रिपोर्ट) में कहते हैं, कि "बंगाल और बिहार में प्रत्येक ग्राम–स्कूल में औसतन स्कूली उम्र के 63 बच्चे हैं। गाँवों की संख्या सरकारी तौर पर 1,50,748 बताई जाती है, जिनमें से सभी में तो नहीं, लेकिन अधिकतर में एक स्कूल तो है।" एडम के अनुसार "बंगाल और बिहार में "स्थानीय" वर्गों के लिए एक लाख से अधिक स्थानीय भाषा–भाषी स्कूल हैं।"

भारत के प्रथम शिक्षा कमीशन ने भी अपनी रिपोर्ट में दर्ज किया कि "बंगाल में हमेशा ही बड़ी भारी संख्या

में देशी स्कूल अस्तित्व में रहे हैं। 1881–82 में 50,000 निम्न प्राइमरी स्कूलों को विभागीय स्कूलों का दर्जा दिया गया था। वे मूल रूप से स्थानीय ग्रामीण स्कूल थे जिन्हें सहायता और जाँच के जरिए शिक्षा विभाग द्वारा विभागीय प्रणाली में शामिल कर दिया गया था। शिक्षा आयोग की बंगाल प्रादेशिक समिति की रिपोर्ट ने इस सम्बन्ध में स्वीकार किया कि ऐसी बात नहीं है कि विभाग ने कई नए स्कूलों की स्थापना की बल्कि सच्चाई यह है कि इतने सारे ऐसे देशी स्कूलों को विभाग से जोड़ा गया जो पहले से ही अस्तित्व में थे।' वास्तव में उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में बंगाल में विभागीय प्राइमरी स्कूलों के चमत्कारिक विकास के लिए देशी स्कूलों का विभागीय स्कूलों में रूपान्तरण ही ज़िम्मेदार है। इससे यह भी पता चलता है कि स्थानीय पाठशाला प्रणाली ब्रिटिश प्राइमरी शिक्षा व्यवस्था लागू किए जाने के बाद में बंगाल में काफी व्यापक थी।

लेकिन स्थानीय स्कूलों के विभागीय स्कूलों में परिवर्तन से इन स्कूलों की स्वतःस्फूर्तता और आन्तरिक जीवन्तता समाप्त हो गई। शिक्षकों द्वारा मार्गदर्शन और स्कूल संगठित करने में ग्रामीणों की भूमिका कम होती जा रही थी, क्योंकि बाहरी संस्था द्वारा नियंत्रण कम्पनी देश के शासक के रूप में स्वयं को स्थापित कर रही थी।

उपर्युक्त अवलोकन संक्रमण काल के दौरान, जब देश का ग्राम्य समाज परिवर्तन के दबाव से गुज़र रहा था, किए जा रहे थे। वैसे भी ब्रिटिश शासकों को भारत में जन शिक्षा की कोई चिन्ता नहीं थी। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि देशी जनशिक्षा व्यवस्था उस वक्त देश के सारे हिस्सों में व्याप्त थी जब ईस्ट इंडिया कम्पनी देश के शासक के रूप में स्वयं को स्थापित कर रही थी।

इस व्यवस्था में जनता के विभिन्न तबके किस प्रकार भाग ले रहे थे यह अध्ययन का एक और मुद्दा है।

एडम की तीसरी रिपोर्ट इसका कुछ अन्दाज़ा देती है। एडम ने बंगाल के तीन जिलों, मुर्शिदाबाद, बीरभूम और बर्दवान का सर्वेक्षण किया। वे बीरभूम और बर्दवान रिपोर्टों को पूर्ण मानते थे।

बर्दवान रिपोर्ट में कहा गया है कि जिले के 13 थानों में कुल 629 बांग्ला स्कूल थे। इनमें से सात एक गाँव में देखे गए, छह दूसरे में और पाँच तीसरे में। नौ गाँव ऐसे थे जिनमें से प्रत्येक में तीन–तीन स्कूल थे, और 466 में प्रत्येक में एक–एक।

शिक्षकों की संख्या 639 थी जो स्कूलों की कुल संख्या से दस ज्यादा थी। हिन्दू शिक्षकों में बहुमत उच्च जातियों का था जिनमे 369 कायस्थ, 107 ब्राह्मण, 50 सद्‌गोप, 30 अंगूरी, 13 वैष्णव , 10 तेली, 9 भट्‌ट, 6 गन्धवणिक, 5 कैवर्त्त, 4 चाण्डाल, 3 कुमार, 3 नापित, 2 सुवर्णवणिक, 2 ग्वाला, 2 बागडी, एक–एक ताती, दैवज्ञ, वैद्य युगी, बराई, कमर, मौर्य, धोबी, राजपूत और कालू थे। नौ मुस्लिम और तीन ईसाई अध्यापक थे।

यह याद रखा जाना चाहिए कि उच्च जाति के शिक्षक होने का यह अर्थ नहीं था कि वे आवश्यक रूप से उच्च वर्ग के भी थे। पर्याप्त तथ्यों की कमी के कारण हम ऊपरी जातियों को आम तौर पर ग्रामीण समुदाय के विशेषाधिकार प्राप्त तबकों का मान सकते हैं और इसमें कोई शक नहीं कि तीन ऊपरी जातियाँ अर्थात कायस्थ, ब्राह्मण और सद्‌गोप जिले की पाठशाला–प्रणाली पर छाए हुए थे।

बीरभूम जिले पर भी यही बात लागू होती है। वहाँ जिले के 412 स्कूलों के 412 शिक्षकों में 354 कायस्थ, ब्राह्मण और सद्‌गोप जातियों के थे। मुसलमान और ईसाई शिक्षकों की संख्या क्रमशः एक और चार थी। फिर भी यह सच है कि दोनों ही जिलों में ऐसे शिक्षक भी थे जो निम्नतम जातियों के थे, हालाँकि उनकी संख्या कम थी।

इन स्कूलों के छात्रों के सम्बन्ध में भी यही स्थिति देखने को मिलती है। बर्दवान जिले के 639 शिक्षकों द्वारा चलाए जाने वाले 629 स्कूलों में कुल औसतन 20.9 छात्र प्रति स्कूल के हिसाब से 13,190 छात्र थे। इनमें से लगभग आधे– 3429 ब्राह्मण, 1846 कायस्थ और 1254 सद्‌गोप 3 सर्वोच्च जातियों के थे जबकि 760 छात्र 16 निम्नतम जातियों के जैसे– कालू, सुनरी, बागडी, डोम, चाण्डाल, जालिया, धोबी, मोची, होरी, तियोर, लुहर, गरार, कूहन, मल, मतियो और पासी थे। 108 वैद्य और 161 क्षत्रिय छात्रों को छोड़ बाकी हिन्दू छात्र दूसरी नीची

जातियों, जैसे अंगूरी, गन्धबनिक, तेली, ग्वाला, मोयरा, सुवर्णबणिक, तोत्ती, तमिल, कैवर्त्त, तिलि, नापित, वैष्णव, युगी, सुतार, कुमार, स्वर्णकार, छत्री, कॉंस्यबणिक, दैवज्ञ, बरई, संखबनिक, बैती, भट्ट, अग्रदानी, कुर्मी, कुस्यार और कुण्ड के थे। मुस्लिम एवं ईसाई छात्रों की संख्या क्रमशः 769 और 13 थी। बीरभूम की स्थिति भी इसी प्रकार की थी।

इस पाठशाला प्रणाली की अच्छी बात यह थी कि पढ़ाने का काम मुख्यतः लिखने वाले कायस्थ वर्ग के हाथों में था, न कि पुरोहित वर्ग के ब्राह्मणों के हाथों में। तालिका 1 से पता चलता है कि कैसे यह वर्ग दूसरों से अधिक संख्या में था।

जहाँ धार्मिक कर्मकाण्डों पर अभी भी ब्राह्मणों का प्रभुत्व था, वहीं पाठशाला व्यवस्था में पढ़ाने के काम पर कायस्थों का प्रभुत्व और मुस्लिमों एवं निम्नतम जातियों के हिन्दुओं की हिस्सेदारी के कारण वे धर्मनिरपेक्ष एवं जनतांत्रिक बने रहे।

सारणी 3 : संस्कृत स्कूलों में शिक्षक और छात्र

| जिला | शिक्षकों की संख्या | छात्रों की संख्या |
|---|---|---|
| मुर्शिदाबाद | 24 | 153 |
| बीरभूम | 59 | 393 |
| बर्दवान | 190 | 1358 |
| दक्षिण बिहार | 27 | 437 |
| तिरहुत | 56 | 214 |
| कुल | 356 | 2555 |

यह उल्लेखनीय है कि देशी भाषा–भाषी स्कूलों की शिक्षा, व्यापार, वाणिज्य और कृषि से सम्बन्धित समुदायों के लिए फायदेमन्द थी क्योंकि वाणिज्यि और कृषि हिसाब–किताब का इन स्कूलों के पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान था। चूँकि कायस्थ और सद्गोप जातियों का इन कार्यक्षेत्रों पर प्रभुत्व था, इसलिए देशी भाषा–भाषी शिक्षा पर प्रभुत्व भी इन्हीं का हो गया। लेकिन उच्चतर हिन्दू शिक्षा पर ब्राह्मणों का प्रभुत्व बना रहा ।

एक और महत्वपूर्ण पहलू पाठशाला–प्रणाली में निम्नतम जातियों की हिस्सेदारी था। एडम के अनुसार, छात्रों में डोम, केवट, होरी और दूसरी निम्न जातियों के लड़के भी शामिल थे, हालाँकि कम संख्या में। इससे शिक्षा की इच्छा का अच्छा प्रमाण मिलता है और साथ ही इसे आसानी से हासिल करने का भी। ये जातियाँ निम्न में भी निम्नतम हैं और पहले उनमें पढ़ने की इच्छा नहीं थी क्योंकि उन्हें इसके लायक नहीं माना जाता था।

मुर्शिदाबाद की रिपोर्ट में उन्होनें कहा "इस आँकड़े से पता चलता है कि हिन्दू समाज के किन वर्गों में शिक्षा अधिक पाई जाती है और किन वर्गों में कम होती जा रही है। यह सोचना गलत होगा कि निम्न तबकों की स्थिति (उच्चतर तबकों) के मुकाबले कमज़ोर होती जा रही है.... वे मज़बूत होते जा रहे हैं, और धीरे–धीरे उस साधारण शिक्षा का महत्व समझ रहे हैं जो उनकी पहुँच के अन्दर है लेकिन जिससे परम्परा ने उन्हें बहुत दूर रखा हुआ था।"

ऐसा प्रतीत होता है कि पाठशालाओं के शिक्षकों ने निम्नतम जातियों के लोगों को स्कूलों मे लाने में बड़ी भूमिका अदा की। चूँकि शिक्षक छात्रों द्वारा दी जाने वाली थोड़ी–सी फीस पर निर्भर थे, इसलिए यह स्वाभाविक था कि वे छात्रों की संख्या बढ़ाना चाहते थे। वे उन गरीब और निम्नतम जातियों के छात्रों को अपने बच्चे स्कूलों में भेजने के लिए मनाते, जो आसानी से मानने को तैयार नहीं थे। यह सम्भव है कि ऐसे शिक्षकों के मन में जो

गरीब और निम्न जातियों के थे, इनके छात्रों के स्कूल में भर्ती होने के प्रति कोई हिचकिचाहट नहीं थी।

एडम की रिपोर्ट से स्पष्ट है कि हालाँकि गरीब और निम्न जातियों के अधिकतर लोग अभी भी इस शिक्षा प्रणाली से दूर थे, फिर भी यह शिक्षा एक हद तक उन तक भी पहुँच रही थी, चाहे सीमित मात्रा में ही क्यों न हो। यह कम महत्व की बात नहीं थी कि बर्दवान जिले के 13,190 छात्रों में 6392 अर्थात् करीब 50 प्रतिशत निम्नतर जातियों के थे।

फिर भी वास्तविकता यह है कि शिक्षा प्रणाली पर ऊपरी जातियों के लोगों का प्रभुत्व एवं नियंत्रण बना हुआ था।

इसमें कोई शक नहीं कि ग्रामीण समाज के गरीब और निम्न जातियों के लोग पाठशाला प्रणाली में हिस्सेदारी की दृष्टि से यानी जनसंख्या में उनके छात्रों के अनुपात के अर्थों में उच्चतर वर्ग और जाति से कहीं पीछे थे। शिक्षा में लड़कियों की सीमित हिस्सेदारी के कारणों के बारे में एडम "राजशाही में शिक्षा की स्थिति सम्बन्धी रिपोर्ट" में कहते हैंः "कहा जाता है कि अधिकांश हिन्दू परिवारों में एक अन्धविश्वास है, विशेष तौर पर स्त्रियों में, जिसे पुरुष समाप्त करने की कोशिश नहीं करते, कि पढ़ी–लिखी लड़की शादी के तुरन्त बाद विधवा हो जाती है।" वे आगे कहते हैं, "मुसलमानों में भी लड़कियों की पढ़ाई के बारे में इसी प्रकार के पूर्वाग्रह हैं; और वैसे ही उनकी अधिकतर आबादी अत्यन्त गरीबी में रहती है, और इसलिए चाहते हुए भी वे अपने बच्चों को शिक्षा नहीं दे पाते।"

अधिकतर निम्न जातियों से आए गरीब रैयतों और ग्रामीण मज़दूरों की शिक्षा में बाधा पहुँचाने वाले कारकों के बारे में प्रामाणिक स्त्रोतों के न होने की स्थिति में हमें साहित्य का सहारा लेना पड़ता है।

पादरी लाल बिहारी दे द्वारा लिखित "बेंगाल पेजेंट लाइफ" (बंगाल का किसान जीवन) या "गोविन्द सामन्त" में उस समय के बंगाल के किसान जीवन का व्यापक चित्र प्रस्तुत किया गया है। वे अकाट्य सबूत पेश करते हैं कि कैसे सामाजिक रीति–रिवाज और धाार्मिक अन्धविश्वास शिक्षा में कमज़ोर तबकों की हिस्सेदारी में बाधा पहुँचाते थे। लाल बिहारी का जन्म 1824 में बर्दवान जिले के सोनापलसी गाँव में हुआ था। यह पुस्तक 1872 में लिखित उनके लेख "बेंगाल पेजेंट लाइफ" (बंगाल का किसान जीवन) का बड़ा संस्करण है। यह उनके बचपन के संस्मरणों के आधार पर लिखा गया था।

बर्दवान के कंचनपुर गाँव में दो पाठशालाएँ थी; एक पाठशाला एक गरीब कायस्थ शिक्षक रामरूप चलाया करता, दूसरी एक ब्राह्मण पण्डित। आम तौर पर गरीब वर्ग अपने बच्चों को रामरूप की पाठशाला में भेजा करते जबकि उच्चतर वर्गों एवं जातियों के लड़के ब्राह्मण शिक्षक की पाठशाला में जाया करते।

बदन एक मेहनतकश रैयत था। वह अपने बेटे गोबिन को रामरूप की पाठशाला में भेजना चाहता था। इसके लिए उसने अपनी माँ की सहमति लेनी चाही। पहले तो उसने इन्कार किया, क्योंकि प्रचलन के अनुसार उनकी स्थिति के लोगों के लिए शिक्षा की इच्छा रखना पाप जैसी चीज थी। साथ ही उसने बदन के बड़े भाई का उदाहरण दिया, जो स्कूल जाने के एक साल के भीतर ही मर गया था। माँ का विश्वास था कि पढ़ना सिर्फ ऊपरी वर्ग और जाति का ही अधिकार था।

इस सम्बन्ध में माता और पुत्र के बीच के वार्तालाप के कुछ अंश यहाँ हम प्रस्तुत कर रहे हैंः

बदनः क्या यह अच्छा नहीं होगा माँ, कि गोबिन को अक्षर–ज्ञान हो ? मुझे तो चिट्ठी भी पढ़नी नहीं आती, न ही कबूलियत लिखना। यह बड़ी कमी है। मैं तो अपना नाम तक नहीं लिख सकता। अपनी अज्ञानता के कारण मैं नाम की जगह एक काट बना देता हूँ। मेरी आँखें हैं, लेकिन मैं देख नहीं सकता। मैं हर धोखेबाज गुमाश्ते का शिकार बनता हूँ और हर अत्याचारी जमींदार का। कितना ही अच्छा हो यदि गोबिन लिखना–पढ़ना सीख जाए, नहीं?

अलंगाः अरे बड़ा बदन! लिखने–पढ़ने की बात भी मत कर। तुम्हारे बड़े भाई को पाठशाला भेजा गया था।

तुम्हारे पिता ने मेरी इच्छा के खिलाफ भेजा था। और क्या हुआ। स्कूल में एक ही साल के बाद भगवान उसे हमसे छीन ले गया। पढ़ना–लिखना हमारे जैसे गरीबों के लिए नहीं... मुझे तो डर लगता है कि... अगर तुम गोबिन को स्कूल भेजोगे तो... भगवान उसे भी हमसे छीन लेगा।

बदन ने पूछा : तो पढ़ने–लिखने वाले ब्राह्मणों और कायस्थ लड़के भी क्यों नहीं मर जाते?

अलंगा जवाब देती है: पढ़ना–लिखना ब्राह्मणों और कायस्थ का काम है। इसलिए भगवान उनसे नाराज नहीं होते। लेकिन हमारा काम तो ज़मीन जोतना है, और अगर हम इतना बड़ा होकर सोचने लगें कि पढ़ने की बातें करने लगें तो भगवान ज़रूर ही हमसे नाराज हो जाएँगे।... वह आगे कहती है, "हम जन्म से ही ज़मीन जोतने वाले लोग हैं, और हमें सारा जीवन ज़मीन जोतना चाहिए। क्या तुम्हारे बुजुर्गों ने पढ़ना–लिखना सीखा था? तो, जो उन्होनें नहीं सीखा, वह बेटे क्यों सीखें?"

इस उदाहरण से पता चलता है कि धार्मिक बन्धनों एवं सामाजिक पूर्वग्रहों के कारण गरीब तबके के लोग शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते थे। इसे आन्तरिक बाधाएँ माना जा सकता है। शिक्षा की ओर निम्न तबकों का रूख उत्पादन–पद्धति के इतिहास का नतीजा है।

आरामतलब ऊपरी तबके के लोग मेहनतकश वर्गों द्वारा उत्पादित अधिशेष पर ही ज़िन्दा रह सकते हैं। कब्जा कर लेने की यह प्रवृत्ति मेहनतकशों के दब्बूपन या निष्क्रियता का नतीजा है। इसे बल प्रयोग या दूसरे तरीके जैसे धर्म के सहारे हासिल किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में कोसाम्बी कहते हैं– "हिंसा का ज़ोर कम करने में ब्राह्मण राज्य का एक प्रमुख अंग था; समर्पण का उसका उपदेश कुल प्रशासनिक खर्च को कम करता था। इस काल में वह इससे भी अधिक और कुछ था– जंगल से भरे क्षेत्रों में प्रवेश करने वाला प्रथम, हल पर आधारित ग्रामीण संस्कृति का प्रमुख हथियार।" वे आगे कहते हैं, सामन्तवाद में जाति एक प्रशासनिक कार्य सम्पादित करती है और प्राथमिक उत्पादक को बिना अधिक बल प्रयोग के काम मे लगाए रखती है।

ज्ञान की इज़ारेदारी के फलस्वरूप ब्राह्मण ग्रामीण समाज के स्वाभाविक नेता बन गए। "धर्म" के रक्षकों के रूप में वे धार्मिक और सामाजिक परम्पराओं तथा नियमों के व्याख्याता थे। साथ ही वे नियम–निर्माता भी बन गए। उच्चतर शिक्षा व्यवस्था से निम्नतर जातियों को अलग रखा गया क्योंकि इससे ब्राह्मणों की इज़ारेदारी समाप्त हो जाती। राजस्व पाने वाले भूस्वामी तबकों को इस पुरोहित वर्ग में अपना सहयोगी मिला। वे उन्हें कम या बिना किसी कर अदायगी के बड़ी उदारतापूर्वक भूमिदान करते और इस प्रकार वर्तमान सामाजिक ढाँचे को बनाए रखने के लिए उनका प्रयोग करते। यह अकारण ही नहीं है कि उच्चतर शिक्षा को जमींदारों की सहायता मिली, इतनी कि वह पूरी तरह उनके भूदान पर निर्भर हो गई जबकि पाठशाला–प्रणाली को शायद ही कभी उनसे मदद मिली। "कर्म" सम्बन्धी ब्राह्मणवादी सिद्धान्त (जो सामाजिक ढाँचे में किसी का स्थान तय करता है), सामाजिक स्तरीकरण एवं उच्चतर वर्गों द्वारा अधिशेष पर नियंत्रण को उचित ठहराता है।

"भाज्य" का यह सिद्धान्त कैसे काम करता है, यह एक गरीब रैयत बोकाराम के शब्दों से स्पष्ट हो जाता है। उसने उसी गाँव कंचनपुर के एक और रैयत–नन्द द्वारा ज़मींदार के उत्पीड़न का विरोध करने के लिए धर्मघाट के निर्माण का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया।

बोकाराम: "मैं धर्मघाट–कर्मघाट वगैरा कुछ नहीं जानता। मुझे इतना ही मालूम है कि अगर हम "माथोट" नहीं अदा करते तो हम बरबाद हो जाएँगे। और फिर, भाग्य से लड़ना बेकार है। उसके ज़मींदार बनना उसका भाग्य है, और हमारे भाग्य में उसका रैयत बने रहना बदा है। इसलिए हमें उसके द्वारा हथियाने की करतूतों को सहते जाना है, चाहे वह उचित हो या अनुचित।" हमने उपर्युक्त उदाहरण में पाया कि अपने अनुभव से सीखते हुए बदन ने अपना बेटे गोबिन को रामरूप की पाठशाला में भेजना चाहा ताकि उसे ज़मींदारी हिसाब–किताब से अवगत कराया जा सके, और इस प्रकार गोबिन बदन के समान ज़मींदार के गुमाश्ता की मर्ज़ी पर न रहे। लेकिन उसकी माँ अलंगा इसे स्वीकार न कर सकी, क्योंकि वह पारम्परिक रीति–रिवाजों में बंधी थी।

राजशाही रिपोर्ट में एडम के एक और अवलोकन से पता चलता है कि धार्मिक बन्धन और सामाजिक पूर्वाग्रह

वर्गों से स्वतंत्र सार्वत्रिक श्रेणियाँ नहीं थीं।

एडम के अनुसार जहाँ अधिकांश हिन्दू एवं मुस्लिम परिवारों में स्त्री शिक्षा के खिलाफ पूर्वाग्रह थे, वहीं "ज़मींदार अधिकतर इससे मुक्त थे। वे आमतौर पर अपनी लड़कियों को ज्ञान की प्राथमिक बातों से अवगत कराते थे, हालाँकि वे इसे आसानी से स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। वे अपनी लड़कियों की शादी धनी, खाते–पीते परिवारों में करना चाहते हैं। इसलिए वे समझते हैं कि लिखने और हिसाब–किताब रखने के ज्ञान के बिना उनकी लड़कियाँ अगर विधवा हो गईं तो स्वर्गवासी पतियों की सम्पत्ति की देखभाल करने में असमर्थ होंगी और अनिवार्यतः लालची लोगों का शिकार बन जाएँगी।"

वास्तव में धार्मिक बन्धन और सामाजिक पूर्वाग्रह समाज के उच्चतर तबकों की शिक्षा में न्यूनतम भूमिका अदा करते हैं। निम्न तबके के लोग भी इन बाधाओं को पार कर सकते हैं, लेकिन कहीं अधिक कठिनाई से जैसा कि बदन के साथ हुआ। फिर भी समाज के उच्चतर तबके ऐसी कोई भी बाधा कहीं अधिक आसानी से पार कर सकते हैं, यदि आर्थिक परिस्थिति का तकाज़ा हो। उदाहरण के लिए, उस वक्त के फारसी स्कूलों में हिन्दू छात्र मुस्लिमों से कहीं अधिक संख्या में थे। तालिका 2 से यह स्पष्ट हो जाता है जिसमें बंगाल और बिहार के कुछ जिलों में फारसी और अरबी स्कूलों में हर सम्प्रदाय के छात्रों की संख्या दी गई है।

अधिकतर हिन्दू छात्र उच्चतर जातियों के थे। ब्राह्मण और कायस्थ सबसे अधिक थे। मुस्लिम शिक्षा संस्थाओं में हिन्दुओं की हिस्सेदारी अधिक स्पष्ट हो जाती है। तब तालिका 3 से तुलना करके हम पाते हैं कि उस वक्त के संस्कृत स्कूलों में शायद ही कोई मुस्लिम शिक्षक या छात्र रहा हो।

जहाँ संस्कृत स्कूलों में कुल छात्रों की संख्या फारसी और अरबी स्कूलों के छात्रों से कहीं कम थी, वहीं हिन्दू छात्रों की कुल संख्या मुस्लिम छात्रों से कहीं अधिक थी। फारसी और अरबी स्कूलों में हिन्दू छात्रों की कुल संख्या संस्कृत स्कूलों में सभी छात्रों की संख्या से सिर्फ 459 ही कम थी।

यह हमारी इस मान्यता की पुष्टि करता है कि उत्पादन साधनों के स्वामित्व तथा शैक्षणिक उपलब्धियों के बीच सकारात्मक सम्बन्ध है। इसमें दो राय नहीं कि मुगल काल में भी बंगाल में भूस्वामित्व मुख्य रूप से उच्च जातियों के हिन्दूओं के पास था जबकि किसान मुख्यतः मुस्लिम थे। मुस्लिम शासन मे यह स्वाभाविक था कि जाति, विचार और धर्म से परे उच्चतर तबकों के लोग शासकों की भाषा सीखें। और इसी कारण ब्रिटिश शासन के दौरान इन्हीं लोगों में अँग्रेज़ी सीखने की होड़ लगी। और ये ही उत्पादन साधनों के स्वामी लोग निम्न तबकों द्वारा धार्मिक नियमों के थोड़े भी उल्लंघन का विरोध किया करते थे।

एक और महत्वपूर्ण प्रश्न आम जनता की शिक्षा की ओर उच्चतर तबकों का रूख था। इस सम्बन्ध में गोविन्द सामन्त की एक और घटना हमें ठोस सबूत पेश करती है।

गोबिन्द अब एक बालिग व्यक्ति बन चुका था। उसे एक बार माथोट, जो एक प्रकार का अबवाब था, नहीं अदा करने के कारण जमींदार के आगे पेश किया गया। जब जमींदार ने सुना कि गोबिन की आरम्भिक शिक्षा रामरूप की पाठशाला में हुई थी तो उसने इसे गोबिन के दुस्साहस का कारण माना। वह गुस्से से लाल–पीला हो गया और गाँव के स्कूल मास्टर रामरूप को किसानों के बेटों को आगे पढ़ाने से मना कर दिया। उसने धमकी दी कि यह आदेश नहीं मानने पर उसकी बची हुई टाँग भी चली जाएगी।

आम जनता की शिक्षा के प्रति ग्रामीण समाज के उच्चतर तबकों का रुख, जैसा कि इस उदाहरण से पता चलता है, कोई अपवाद नहीं बल्कि आम बात थी और इसे बाहरी बाधा माना जा सकता है।

इस सम्बन्ध में बंगाल प्रादेशिक शिक्षा आयोग, 1884 के सामने पेश कुछ गवाहियों पर ध्यान देना उचित होगा। इससे इस समस्या पर कुछ प्रकाश पड़ता है। प्रश्न संख्या तीन में आयोग जनशिक्षा की ओर उच्चतर वर्ग का रूख जानना चाहता था। बर्दवान के मजिस्ट्रेट डब्ल्यू. आर. लारमिनी ने अपने बयान में कहाः

"जहाँ तक मेरा अनुभव है, उच्चतर वर्गों के कुछ ही लोग प्राथमिक स्कूलों में खास दिलचस्पी लेते हैं। उच्चतर

सभ्यता का दम्भ भरने वाले कइयों में कुछ तो निम्न वर्गों की किसी भी शिक्षा का विरोध करते हैं; वे समझते हैं कि इससे निम्न तबके के लोग अपनी स्थिति से असन्तुष्ट हो जाएँगे और वे शायद इस विचार के भी हैं कि ये तबके तब इतनी आसानी से चुपचाप दमन नहीं सहेंगे।"

बाबू द्वारकानाथ गांगुली ने कहा, "प्राथमिक शिक्षा के प्रसार की ओर प्रभावशाली वर्ग आम तौर पर मित्रतापूर्ण रूख नहीं अपनाते..... उन्हें डर है कि ऐसी शिक्षा से जनता पर उनका नियंत्रण कमजोर हो जाएगा।" पादरी जे. डी. भटटाचार्य के अनुसारः

"उनमें से कई (उच्चतर वर्ग के लोगों मे से कई) कहते हैं कि जब तक उन्हें अज्ञानी रखा जाएगा तब तक वे हमारी बात मानेंगे, लेकिन यदि वे ज्ञान अर्जन कर लेगें तो अपने अधिकारों के लिए हमारे साथ संघर्ष करेंगे।"

स्तरीकृत समाज में जनशिक्षा के रास्ते में ढाँचागत और विचारजनित बाधाओं के ये कुछ उदाहरण हैं।

हमारी चर्चा के इस हिस्से को समाप्त करने से पहले हमें एक और तथ्य पर विचार करना हैः प्रेरणा का प्रश्न। इसे दूसरी तरह से भी पेश किया जा सकता है– शिक्षा क्यों?

निस्सन्देह स्तरीकृत समाज में, शिक्षा का अर्थ विभिन्न तबकों के लिए अलग–अलग होता है।

प्राक्–ब्रिटिश काल में ग्रामीण समाज में चार मुख्य वर्गों की पहचान की जा सकती हैः 1. ज़मींदार और अपनी जीविका के लिए उन पर सीधे तौर पर निर्भर एजेंट एवं सहयोगी; 2. रैयत या खेती करने वाला वर्ग; 3. दस्तकार और व्यापारी; तथा 4. मजदूर।

हालाँकि दस्तकारों और व्यापारियों की भी भूमि में कुछ दिलचस्पी रही होगी, उन्हें अलग श्रेणी में रखा गया है क्योंकि उनकी आय का मुख्य स्त्रोत कृषि के अलावा अन्य साधन हैं।

जहाँ रैयतों का संख्या की दृष्टि से प्रभुत्व था, वहीं ज़मींदार और उनके सहयोगी उत्पादन सम्बन्धों में अपनी स्थिति के कारण सामाजिक एवं राजनैतिक सत्ता पर नियंत्रण रखते थे। मजदूर आमतौर पर निम्नतम जातियों के थे और उनका शोषण बाकी तीनों जातियाँ किया करतीं।

इरफान हबीब लिखते हैं– "भू–बहुलता की स्थिति में इस बड़े वर्ग का अस्तित्व शुरू में मुख्यतः कृषि उत्पादन की विफलता से नहीं था, बल्कि परम्परा और बल के ज़ोर से था। भूमिहीन निम्नतम जातियों के थे, जिन्हें किसानों एवं बेहतर कृषि उत्पादकों के हितों की सेवा करनी पड़ती थी और इस प्रकार वे एक विशाल ग्रामीण अर्द्ध–सर्वहारा थे, जिन्हें पूरी तरह गैर–आर्थिक दबावों से बनाए रखा जाता था।" वे आगे बताते हैं कि यह ग्रामीण सर्वहारा मुगलकाल की देन नहीं था, बल्कि सदियों की विरासत थी। दामोदर कोसाम्बी इस वर्ग का उदय उत्तर–ऋग्वैदिक काल में देखते हैं। उन्होनें पाया कि आर्यों की जीत के बाद "उत्पादन सम्बन्धों में प्रमुख परिवर्तन विजित दासों से सेवा करने वाले वर्ग का निर्माण था; उसके बाद इस शब्द का अर्थ गुलाम के रूप में लगाया जाने लगा।" उनके अनुसार उन्हें उस स्थिति में बल–प्रयोग ने नहीं बल्कि दूसरे तरीकों, जैसे धर्म, ने पहुँचाया और यही भारत में जाति–व्यवस्था की शुरुआत थी।

यह स्पष्ट है कि ग्राम समुदाय का विशिष्ट ढाँचा उच्चतर तबकों की धाार्मिक एवं सामाजिक परम्पराओं द्वारा बरकरार रखा गया था।

ज़मींदार और उनके सहयोगी शिक्षा को मात्र अपना ही अधिकार तथा विशेषाधिकार मानते थे। समाज में अपनी प्रभुत्वकारी स्थिति बनाए रखने एवं शोषण की मशीनरी चलाने के लिए कुछ शिक्षा की जरूरत थी। वे उच्चतर शिक्षा की सहायता करते थे क्योंकि यह उस सामाजिक रचना को बरकरार रखने के लिए ज़रूरी था, जो ऐसा आरामतलब तबका तैयार करता जो एक ओर तो उनकी विशिष्ट स्थिति वैध ठहराए और दूसरी ओर निम्नतर जातियों को उनकी दासता स्वीकार करने को मनवा ले।

लेकिन भू–अधिकारों के लिए तथा ज़मींदारों के अत्याचारों का विरोध करने एवं अपनी सम्पत्ति की देखभाल करने के लिए रैयतों को लिखने और हिसाब–किताब रखने की कम से कम जानकारी होनी जरूरी थी। मजदूरों

का ही एकमात्र वर्ग था जिसे अपने बच्चों की पढ़ाई का कोई उद्देश्य नज़र नहीं आता; उनके पास न बचाने के लिए कोई सम्पत्ति थी और न ही शिक्षा के जरिए अपनी स्थिति बेहतर बनाने की कोई सम्भावना।

ज़मींदारों और रैयतों के वर्ग–हित एक–दूसरे के बिलकुल विपरीत थे, और शिक्षा की प्रेरक भावनाएँ भी अलग–अलग थीं। ऐसी परिस्थिति में सार्वत्रिक शिक्षा के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता था। शिक्षा वर्ग–शिक्षा थी, और इसलिए इस क्षेत्र में एक से दूसरे वर्ग में अन्तर था।

ज़मींदार और पढ़े–लिखे वर्ग अपना सामाजिक अलगाव बनाए रखना चाहते थे, इसलिए बच्चों को घरों में ही विद्वान पण्डितों द्वारा पढ़ाया जाना अधिक पसन्द करते थे। इसीलिए ग्राम पाठशालाएँ चलाने में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी। दूसरी ओर, रैयतों तथा छोटे व्यापारियों के लिए अपने बच्चों को पाठशाला में भेजना अधिक लाभदायक था। और स्वाभाविक रूप से वे पाठशाला–प्रणाली के असली निर्माता थे जबकि मजदूर हाशिए पर रह गए।

इस बात के बावजूद कि धार्मिक बन्धन, सामाजिक पूर्वाग्रह और जनशिक्षा की ओर उच्चतर तबकों का शत्रुतापूर्ण रवैया निम्न वर्गों की देसी भाषा–भाषी शिक्षा के रास्ते में कई बाधाएँ पहुँचा रहे थे, यह सच है कि इस व्यवस्था ने समाज में जड़े जमा लीं। आखिर, सदियों के सहयोग के कारण जनता इस प्रणाली से वाकिफ थी। इसके अलावा पारम्परिक व्यवस्था के अन्दर सामाजिक गति दिख पड़ रही थी। जैसा कि एडम ने कहा, "देसी स्कूलों में निम्न जातियों के लोगों की संख्या इतनी है, जिससे पता चलता है कि निम्न वर्गों में पढ़ाई के जरिए अपनी स्थिति सुधारने और फायदे बढ़ाने के लिए दूसरे कारण एवं प्रक्रियाएँ काम कर रही हैं।"

इन परिस्थितियों मे परम्परागत प्रणाली से दूर जाने का मतलब था अनावश्यक जटिलताएँ पैदा करना, जिसमें जनता के अलगाव का खतरा था। ऐसे स्कूलों की प्रणाली और उनका स्थानीय प्रशासन एक ओर तो केन्द्रीय प्रशासन का वित्तीय और प्रशासनिक भार कम करती और दूसरी ओर जनता की हिस्सेदारी आसान बनाती है।

कुछ दस्तावेज़ों से यह पता चलता है कि हालाँकि ब्रिटिश शासकों ने देसी शिक्षा प्रणाली के फायदे को महसूस किया, फिर भी भारत को गुलाम बनाने की उनकी नीति इस प्रणाली को जारी रखने की इजाज़त नहीं देती थी।

शुरू में ही जब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी हासिल करके नागरिक सत्ता अपने हाथों मे ली तो पूर्ण विनाश की प्रक्रिया शुरू हो गई। इस दौर को आर. पी. दत्त ने "वाणिज्यीय पूँजीवाद" बताया, जिसमें कम्पनी का एकमात्र उद्देश्य व्यापार के नाम पर देश को लूटना था। इसे देश के अच्छे प्रशासन की कोई चिन्ता नहीं थी। वास्तव में 1813 तक ईस्ट इंडिया कम्पनी ने शिक्षा की चिन्ता ही नहीं की। "ब्रिटिश व्यापारी जो इस देश से व्यापार करने के और इसके राजस्व पर नियंत्रण बना रहे थे, यहाँ विदेशी लोगों की–जिन पर उसका शासन था–शिक्षा की चिन्ता नहीं करते थे।" मुगलों के काल की भू–राजस्व शोषण व्यवस्था अभी भी प्रचलित थी। अन्तर यही था कि वह और भी कठोर हो गई थी और शासित जनता की बिना किसी जिम्मेदारी के प्रचलित थी, और देसी शिक्षा–प्रणाली उपेक्षित होती जा रही थी।

यह दिलचस्प बात है कि स्थानीय व्यवस्था का पतन अपने आप नहीं हुआ। इसे अँग्रेज़ शासकों की सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था ने पूरी तरह समाप्त कर दिया। उन्होंने ब्रिटिश मॉडल पर प्राथमिक स्कूल से उच्चतर शिक्षा व्यवस्था लागू की। यह पाठशाला–प्रणाली से पूरी तरह अलग थी। शिक्षा के सम्बन्ध में मुक्त नीति साम्राज्यवादी सत्ता के लिए खतरनाक थी। इस तथाकथित "सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली" ने आखिरकार स्थानीय प्रणाली को विकृत कर अपने अन्दर शामिल कर लिया। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि 1881–82 में विभागीय संस्थाओं के रूप में पेश 50,000 निम्न प्राइमरी स्कूल, मूल रूप में स्थानीय ग्रामीण स्कूल थे। यह केन्द्रीकृत प्राथमिक शिक्षा प्रणाली उस स्वतःस्फूर्तता से वंचित थी जो देसी शिक्षा प्रणाली का जीवन था।

इसमें कोई अचरज की बात नहीं कि "छानकर अलग करने" की नीति से जनित उन्नीसवीं सदी के बुद्धिजीवियों ने इस नई प्रणाली का स्वागत किया।

|||||||||

## पठन सामग्री क्र– 19

# दस्तावेजो से

आधुनिक भारत में शिक्षा व्यवस्था कैसी हो, छात्रों को क्या पढ़ाया जाए इस पर उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत में काफी बहस हुआ। कुछ लोगों का मानना था कि छात्रों को संस्कृत, फारसी जैसी भाषा व हिन्दू व इस्लामी शास्त्र पढ़ाया जाना चाहिए। अन्य लोगों का मत था कि इनकी जगह अँग्रेज़ी व आधुनिक विज्ञान पढ़ाया जाना चाहिए यहा इन तीन दस्तावेज़ों के अंश दे रहे हैं जो अँग्रेज़ी शिक्षा की पैरवी कर रहे थे।

### 1. चार्ल्स ग्रान्ट

भारतीय समाज का पुनरूद्धारण हमारा परम कर्तव्य है। भारतीय अज्ञान के कारण गलत राह पर हैं। वहाँ इसाई धर्म, अँग्रेज़ी शिक्षा तथा पाश्चात्य विज्ञान व कला के प्रसार से यह अँधकार दूर हो सकेगा।

### 2. राजा राममोहन राय 11 दिसंबर 1823

### लार्ड अम्हर्स्ट को पत्र

हमें पता चला है कि सरकार पण्डितों के निर्देशन में एक संस्कृत पाठशाला खोल रही है जिसमें ऐसा ज्ञान दिया जाएगा जो भारत में पहले से वैसा ही चला आ रहा है। ऐसी पाठशाला युवाओं के दिमाग में सिर्फ व्याकरण के बारीक नियम और दूसरे लोक का ज्ञान भर सकती हैं और ऐसा कुछ नहीं दे सकती जो विद्यार्थी या समाज के लिए व्यवहारिक रूप से उपयोगी हों।

चूँकि सरकार का उद्देश्य स्थानीय लोगों को बेहतर बनाना है इसलिए वह गणित, दर्शन शास्त्र, रसायन शास्त्र, शरीर रचना शास्त्र, और दूसरे उपयोगी विज्ञान को बढ़ावा दे। यह काम यूरोप में शिक्षित व्यक्तियों को नियुक्त करके और पुस्तकों व उपकरणों से सुसज्जित कालेज बनाकर पूरा किया जा सकता है।

### 3. मैकाले

सभी इस बात से सहमत हैं कि भारतीय बोलियों में कोई साहित्यिक, वैज्ञानिक सामग्री उपलब्ध नहीं है और वे बोलियाँ जब तक दूसरी भाषाओं से अनुवाद नहीं करेंगी, वे विकसित नहीं होगी। यह सभी लोग मानते हैं कि जो लोग उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं उनके लिए कोई अन्य भाषा सीखना ही उपयुक्त रहेगा। यह कौन सी भाषा हो सकती है। कुछ हमारे साथी मानते हैं कि यह भाषा अँग्रेज़ी होना चाहिए और कुछ यह मानते हैं कि वह संस्कृत या अरबी होना चाहिए। अगर हम इन भाषाओं में उपलब्ध साहित्य की तुलना करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि जिन भाषाओं में उत्कृष्ट साहित्य, वैज्ञानिक तथ्य उपलब्ध हों, व्यापक मुद्दों पर विचार विमर्श हों उनमें यूरोपीय भाषा ही अग्रणी हैं। उनमें अँग्रेज़ी ही सबसे उपयुक्त है। दर्शन, नीति, शासन, कानून, व्यापार, पूर्ण व सही जानकारी हर विज्ञान के बारे में, स्वास्थ्य के बारे में, जिनसे किसी भी व्यक्ति की बुद्धि का विकास हो – जो कोई भी इस भाषा को जाने उसके सामने दुनिया की सबसे समझदार देशों द्वारा पीढ़ियों से संचित ज्ञान खुल जाता है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि पिछले तीन सौ सालों में जो साहित्य इस भाषा में रचा गया है वह उसके पूर्व में दुनिया भर में सभी भाषाओं में रचित सामग्री से अधिक समृद्ध है।

भारतीय खुद इस भाषा को सीखने व ज्ञान अर्जित करने के लिए आतुर हैं। अगर हम भारतीयों को इस भाषा से दूर रखते हैं तो हम न केवल उन्हें वंचित रखते हैं बल्कि उन्हें उस अध्ययन में झोंक देंगे जिससे वे खुद ऊब

गए हैं। यह इस बात से प्रमाणित होता है कि हम अरबी व संस्कृत सीखने वाले छात्रों को छात्रवृत्ति देकर पढ़ाते हैं जबकि जो लोग अँग्रेज़ी सीखना चाहते हैं वे पैसा देकर सीखने के लिए तैयार हैं। जो लोग यह दलील देते हैं कि भारतीय अपनी भाषा व साहित्य को ही सीखना पसन्द करेंगे, वे हमें पूरे भारत में ऐसा एक छात्र दिखा दें जो अपनी ही बोली को सीखने के लिए बिना हमारे पैसे दिए तैयार हों।

पिछले साल जिन छात्रों को हमने छात्रवृत्ति देकर संस्कृत पढ़ाई थी, ने हमें एक अर्ज़ी दी कि उन्होंने 12 साल अध्ययन पर खर्च किया है और उसके आधार पर कोई जीविका नहीं मिल रही है और वे चाहते हैं कि शासन उन्हें वज़ीफा दे। यानी जिन्हें हमने पैसा खर्च करके शिक्षित किया वे उसके लिए हमसे मुआवज़ा माँग रहे हैं, क्योंकि उनका जीवन व्यर्थ हो गया। मेरा मानना है कि वे सही कहते हैं।

मेरे पास एक और निर्णायक दलील है। हमने बड़े खर्च से पुरानी संस्कृत व अरबी पुस्तकों को प्रकाशित किया है। लेकिन इन्हें खरीदने के लिए कोई तैयार नहीं है। वे गोदामों में सड़ रही हैं। हम उन्हें मुफ्त भी नहीं बाँट पा रहे हैं।

यह दलील दी जाती है कि हमें उनके धर्म व आस्थाओं का सम्मान करना चाहिए और उसमें दखल नहीं देना चाहिए। मेरा मानना है कि हम किसी प्रकार की शासकीय मदद उन लोगों को नहीं देंगे जो भारतीयों में इसाई धर्म का प्रचार कर रहे हैं, और आगे भी यही नीति अपनाते रहेंगे। लेकिन क्या हम दूसरी ओर शासकीय पैसे से उन लोगों को उनके पुरातन व अन्धविश्वासी ग्रन्थों का अध्ययन करवाते रहें।

यह भी दलील दी जाती है कि भारतीय अँग्रेज़ी ठीक से नहीं सीख सकते हैं अतः उन्हें उनकी ही भाषा सिखाना चाहिए। यह सरासर गलत दलील है – भारतीयों ने यह सिद्ध किया है कि वे हमारे ही जैसी अँग्रेज़ी सीखकर हमसे संवाद कर सकते हैं।

हमारे पास जितना पैसा शिक्षा के लिए उपलब्ध है उससे हम पूरे देश के लोगों को शिक्षित नहीं कर सकते हैं। लेकिन हम उनमें से कुछ को हमारे व करोड़ों शासितों के बीच अनुवादक के रूप में तैयार कर सकते हैं – जो रंग व खून में भारतीय हों मगर स्वाद, विचार, नैतिकता व बुद्धि से अँग्रेज़ हों। उस वर्ग के हाथ हम इस बात के लिए छोड़ दें कि वे अपनी बोलियों को परिष्कृत करें व वैज्ञानिक साहित्य के अनुवाद से समृद्ध करें ताकि लोगों तक यह ज्ञान पहुँचे।

अन्त में मेरा आग्रह है कि बनारस व दिल्ली में जो संस्कृत व अरबी कालेज स्थापित किए गए हैं, उन्हें बनाए रखें व अन्य ऐसी संस्थाओं (कलकत्ता व पूणे के) को बन्द कर दें। उससे बचे धन से तीनों प्रान्तों में अच्छी तरह अँग्रेज़ी पढ़ाने के लिए स्कूलों को स्थापित करें।

1. राजा राममोहन राय ने अँग्रेज़ी शिक्षा का समर्थन क्यों किया?
2. मैकॉले ने संस्कृत व अरबी ग्रन्थ पढ़ाने के विरोध में क्या–क्या दलीलें दीं?
3. लगभग 150 साल के अनुभवों के बाद आज आप क्या राममोहन राय व मैकॉले के बातों से सहमत हैं? आपके क्या विचार है?

|||||||||

## पठन सामग्री क्र.– 20

# उपनिवेशवाद और प्रभुत्व के सिद्धान्त की तरह शिक्षा

अविजित पाठक

(Avijit Pathak, Social Implications of Schooling : Knowledge, Pedagogy, And Conciousness . Rainbow Publishers Ltd New Delhi 2002)

उपनिवेशवाद का मतलब है नियंत्रण। यह विश्व को ऊपर–नीचे की श्रेणियों में बाँट देता है। यह उपनिवेशक को विशेषाधिकार प्रदान करता है; उसे इतनी शक्ति देता है कि वह अपने अधीन लोगों का दमन कर सके। और यह हिंसा केवल शारीरिक नहीं होती; उपनिवेशवाद को नैतिक/सांस्कृतिक/सांकेतिक हिंसा से अलग नहीं किया जा सकता। अधीनस्थ लोग आमतौर पर हताशा में जीते हैं। उनके लिए खुद में आस्था रख पाना मुश्किल हो जाता है। वे खुद को कमतर मानने लगते हैं तथा ताकत, हिम्मत, शिक्षा, सभ्यता–वस्तुतः सभी सकारात्मक गुणों को अपने औपनिवेशिक स्वामियों के साथ जोड़कर देखते हैं। यह बताने की ज़रूरत नहीं कि औपनिवेशिक शिक्षा इस वैचारिक उपकरण का महत्वपूर्ण अंग होती है। जब हम औपनिवेशिक शिक्षा के इतिहास को देखते हैं तो हमें एहसास होता है कि किस तरह शिक्षा ने औपनिवेशिक स्वामियों की गतिविधियों को वैधता देने की इस प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। अँग्रेज़ी/आधुनिक शिक्षा (औपनिवेशिक स्वामियों की दी हुई "भेंट") प्रदान करना मुख्यतः सांस्कृतिक आक्रमण की कार्यवाही थी। इसने हमारी सभ्यता के सभी आदर्शों की निन्दा की और सिर्फ पश्चिमी विचारों को ही ज्ञान का दर्ज़ा दिया; यह शिक्षा हमारी अपनी शैक्षिक विरासत के इतिहास के प्रति संवेदनशील नहीं थी। इसके अलावा इस शिक्षा ने बड़े कुशल ढंग से उपनिवेशवाद को वैधता प्रदान की, क्योंकि इससे हमारे औपनिवेशिक स्वामी महान स्कूली शिक्षकों (पढ़े–लिखे वयस्कों) की तरह लगते थे, जिनसे हमें निष्क्रिय/अज्ञानी बच्चों की तरह ज्ञान के मूल सिद्धान्त सीखना ज़रूरी होता था।

उपनिवेशवाद के साथ दंभ का जुड़ा होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी। अपने "सभ्य बनाने के मिशन" के दावे को मजबूती प्रदान करने के लिए इस शिक्षा ने भारत में चल रहे "अंधकार युग" के बारे में बात की। हम "अंधकार युग" की बात में निहित झूठ को आसानी से समझ सकते हैं, क्योंकि जैसा कि हम बता चुके हैं भारत के पास पढ़ाई और शिक्षा की समृद्ध परंपरा थी। इतना ही नहीं, ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा किए गए अध्ययनों तक ने यह दिखाया है कि औपनिवेशिक आक्रमण के समय भारत में पढ़ने की संस्कृति का व्यापक प्रसार था। उदाहरण के लिए, 1835–38 के काल के बंगाल प्रेसीडेंसी पर आधारित विलियम ऐडम की रिपोर्ट (1941) को लें। यह रिपोर्ट शिक्षा के महत्व के बारे में समाज में, विशेषकर ऊपरी तबके के लोगों में, व्याप्त सामान्य जागरुकता का उल्लेख करती है। ऐडम के इस कथन से शिक्षा को दिए जाने वाले महत्व और उससे जुड़ी गरिमा के बारे में पता चलता हैः

संस्कृत स्कूलों के शिक्षक और विद्यार्थी मिलकर हिन्दू लोगों की परिष्कृत प्रज्ञा बनाते हैं, और इन लोगों का समाज में वह सम्मान और प्रभाव है जो परिष्कृत प्रज्ञा को हमेशा हासिल होता है। स्थानीय समाज को उसकी मौजूदा आवाज, स्वरूप व चरित्र प्रदान करने में इन शिक्षित लोगों के वर्ग से किसी भी दूसरे वर्ग के लोगों का ज्यादा योगदान नहीं होता (ऐडम 1941:274)।

हम ऐडम की रिपोर्ट से यह भी जान जाते हैं कि देशी प्राथमिक स्कूल दो प्रकार के थे। पहले प्रकार के स्कूलों को उनका प्रमुख (आर्थिक) सहयोग किसी एक अकेले सम्पन्न परिवार के संरक्षण से प्राप्त होता था, और दूसरे प्रकार के स्कूल उस कस्बे अथवा गाँव के समुदाय के आम सहयोग पर निर्भर करते थे जहाँ वे स्थापित होते थे। उसने अनुमान लगाया था कि उन्नीसवीं सदी की शुरूआत में बंगाल प्रेसीडेंसी में 1,00,000 देशी प्राथमिक स्कूल थे। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि औसतन, स्कूल जाने वाली उम्र के हर 73 बच्चों पर एक, तथा हर 30 या 32 लड़कों पर एक ग्रामीण स्कूल था। रिपोर्ट में लिखा है :

ऐसा लगेगा कि ग्रामीण स्कूलों की व्यवस्था का व्यापक रूप से प्रचलन है, (और यह) कि अपने लड़कों को शिक्षित करने की लालसा दीनतम वर्गों तक के माता–पिता के मन में बहुत गहरे से बसी होगी; और ये वे संस्थाएँ हैं जो लोगों की आदतों और देश की परम्परा के साथ नज़दीकी तौर पर जुड़ी हुई हैं।

इन प्राथमिक स्कूलों – पाठशालाओं और मदरसों–के अलावा संस्कृत, अरबी और फारसी में ऊँचे दर्ज़े की पढ़ाई के लिए ऐसे कई केन्द्र उपलब्ध थे जो अठारहवीं सदी के दौरान फले–फूले। संस्कृत सीखने के प्रमुख केन्द्र थे बनारस, उज्जैन, तिरहुत, नदिया, राजशाही, तंजौर और त्रिवेन्द्रम। इस्लामी पढ़ाई के लिए तीन महत्वपूर्ण केन्द्र थे जयपुर, लखनऊ और पटना। ऐडम के अनुसार कलकत्ता में संस्कृत सीखने के लिए 28 शिक्षणालय थे और सन् 1818 में वहाँ 173 विद्यार्थी अध्ययनरत थे; नदिया में सन् 1801 में 31 शिक्षणालय थे जिनमें 747 विद्यार्थी पढ़ते थे। राजशाही में 1834–35 में ऐडम ने पाया कि संस्कृत अध्ययन के 38 कॉलेज, हिन्दू कानून के 19, सामान्य साहित्य के 13, तक्रशास्त्र के 2, तथा वेदान्त, तांत्रिक, पौराणिक और चिकित्सा अध्ययन के 4 कॉलेज थे।

इस सन्दर्भ में अठारहवीं सदी के देशी भारतीय शिक्षा पर धर्मपाल द्वारा किया गया अध्ययन काफी प्रासंगिक हो जाता है। वे उन रिपोर्टों/सर्वेक्षणों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं जो ब्रिटिश आधिकारियों और कर्मचारियों द्वारा किए गए थे– मुख्यतः बंगाल और बिहार पर ऐडम की रिपोर्ट, मद्रास प्रेसीडेंसी में किया गया मुनरो का सर्वेक्षण और पंजाब में शिक्षा की दशा पर लाइटनर द्वारा हासिल की गई जानकारियाँ। वे तीन बातें कहते हैं–

पहले, वे इस भ्रम का खण्डन करने का प्रयत्न करते हैं कि जब ब्रिटिश लोग भारत को उपनिवेश बनाने के लिए आए तो यहाँ शिक्षा की दशा अत्यन्त दयनीय थी। बल्कि वे दर्शाते हैं कि भारतीय स्कूली शिक्षा कई तरह से इंग्लैण्ड की तात्कालिक स्कूली शिक्षा से बेहतर थी। यह सच है कि इंग्लैण्ड में 16वीं सदी, 17वीं सदी या फिर 18वीं सदी के शुरुआती दौर में शिक्षा की समृद्ध परम्परा थी। ऑक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज और ऐडिनबर्ग विश्वविद्यालय शिक्षा के केन्द्र थे। इसके अलावा, उस समय वहाँ फ्राँसिस बेकन, शेक्सपियर, मिल्टन और न्यूटन जैसे चिन्तक/दार्शनिक भी हुए। और 18वीं सदी के अन्त आते–आते इंग्लैण्ड में लगभग 500 व्याकरण स्कूल थे। फिर भी, जैसा कि धर्मपाल का मानना है कि, "यह सारी महत्वपूर्ण पढ़ाई और विद्वता कुछ बेहद चुनिन्दा सम्भ्रान्त लोगों के तबके तक सीमित थी"। और उस समय भारत में क्या हालात थे?

शिक्षा की विषयवस्तु उस समय इंग्लैण्ड में पढ़ाई जा रही विषयवस्तु से बहुत अलग प्रतीत नहीं होती। पढ़ाई की अवधि ज्यादा लम्बी होती थी.... स्कूलों में पढ़ने वालों की संख्या 1800 में इंग्लैण्ड के सभी प्रकार के स्कूलों में पढ़ने वाले लोगों की संख्या से आनुपातिक तौर पर कहीं ज़्यादा थी।

ऐडम के अनुसार, 1830 के दशक में बंगाल और बिहार में 1,00,000 ग्रामीण स्कूल थे। और मुनरो के अनुसार, मद्रास प्रेसीडेंसी के हर गाँव में स्कूल था। इसके अलावा, जैसा कि ये रिपोर्ट भी सुझाती है, अध्ययन की अवधि न्यूनतम पाँच साल से लेकर अधिकतम 15 साल तक होती थी। इसकी भी पुष्टि की गई कि अपने 13वाँ साल पूरा करने के पहले ही, पढ़ाई की विभिन्न शाखाओं में उनके द्वारा हासिल की गयी उपलब्धियाँ असाधारण रूप से महान होती है। इसके अलावा, स्कूल काफी घण्टों तक चला करता था; आमतौर पर प्रातः 6 बजे शुरू हो जाता था, इसके बाद भोजन इत्यादि के लिए एक या दो छोटे अन्तराल होते थे, और सूर्यास्त या उसके बाद तक भी पढ़ाई चलती रहती थी।

दूसरे, धर्मपाल इस मत के खिलाफ प्रमाण देते हैं कि भारत में शिक्षा हिन्दूओं के बीच मुख्यतः ब्राह्मणों तक,

एवं मुसलमानों में शासक वर्ग तक सीमित थी। पर वास्तविक स्थिति काफी अलग थी। कम से कम हिन्दुओं में तो स्थिति अलग थी ही। मद्रास प्रेसीडेंसी के ज़िलों (और वह भी तमिल बोले जाने वाले इलाकों के) तथा बिहार के दो ज़िलों में स्थिति यह थी कि जिन्हें शूद्र कहा जाता था, या जो जातियाँ उनसे भी नीची मानी जाती थीं, उनका ऊपर बताए गए क्षेत्रों में उस समय चल रहे हज़ारों स्कूलों में बोलबाला था'। उदाहरण के लिए ऐडम की रिपोर्ट का एक आश्चर्यजनक रहस्योद्‌घाटन था कि बर्द्धमान ज़िले में 61 डोम और 61 चाण्डाल विद्यार्थी थे; उनकी संख्या करीब–करीब वैद्य (वैश्य) छात्रों के बराबर ही थी।

तीसरे, धर्मपाल चाहते हैं कि हम इस प्रचलित धारणा पर पुनर्विचार करें कि भारत में शिक्षा की प्रकृति अधिकांशतः धार्मिक थी; अर्थात् उसमें व्यावहारिक/तकनीकी शिक्षा की कमी थी। जिन दस्तावेज़ों पर धर्मपाल का शोध आधारित है उनमें ऊँचे दर्ज़े की शिक्षा के मुद्‌दे पर काफी कुछ दिया गया है, खास तौर पर धर्मशास्त्रों, कानून, चिकित्सा, अन्तरिक्ष विज्ञान और ज्योतिष के बारे में। पर भारत में मौजूद तकनीकों और कलाओं के प्रशिक्षण के बारे में बिरले ही चर्चा की गई है। इसका सम्भावित कारण यह हो सकता है कि जिन लोगों ने शिक्षा पर लिखा–चाहे सरकारी प्रशासक हों, यात्री हों या ईसाई मिशनरी हों– उन्हें इस बात में कोई खास दिलचस्पी नहीं थी कि किस तरह ऐसी कलाएँ सिखाई जाती थीं, या फिर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के सुपुर्द की जाती थीं। इसके अलावा जैसा कि धर्मपाल का मानना है, कि अधिकांश कलाएँ घर में ही सीखी जाती थीं, और जिसे ब्रिटेन में एप्रेन्टिसशिप कहा जाता था, वह भारत में सीखने का एक अनौपचारिक तरीका था जहाँ आमतौर पर माता–पिता ही शिक्षक होते थे एवं बच्चे विद्यार्थी। तकनीकी व कलाओं के शिक्षण के बारे में जानकारी में कमी का यह एक और कारण हो सकता है।

धर्मपाल इस बात पर खेद व्यक्त करते हैं कि अधिकांश शिक्षित भारतीय इस बात से अनभिज्ञ हैं कि दो शताब्दी पहले भी भारत के पास शिक्षा के क्षेत्र में देने को क्या कुछ नहीं था। "इसने (अज्ञान ने) भारत के लोगों के आम जीवन में न सिर्फ आत्मविश्वास की कमी की प्रवृत्ति पैदा की है, बल्कि उन्हें दिशाहीन भी बनाया है।" यह निश्चित ही दुख की बात है कि उपनिवेशवाद, थॉमस बैबिंगटन मैकॉले जैसे अपने विचारों के साथ, हमारी विरासत की जड़ें खोद सका, हमें हतोत्साहित कर सका और साम्राज्यवादियों की नैतिक/संज्ञानात्मक श्रेष्ठता स्थापित कर सका।

यह सच है कि शुरुआत में ईस्ट इंडिया कम्पनी आधुनिक/यूरोपीय शिक्षा पर प्रसार करने के प्रति उत्सुक नहीं थी। बल्कि, उसने देशी स्कूली व्यवस्था का समर्थन करने और उसे बढ़ावा देने की उत्सुकता दिखाई थी। उदाहरण के लिए, 1781 में, वॉरेन हैस्टिंग्ज़ ने कलकत्ता मदरसा स्थापित किया और भारतीय–ईरानी संस्कृति के प्रति अपने आकर्षण को उजागर किया। मदरसे में पढ़ाए जाने वाले पाठ्यक्रमों में प्राकृतिक दर्शनशास्त्र, कुरानी धर्मशास्त्र, कानून, रेखागणित, अंकगणित, तर्कशास्त्र और व्याकरण शामिल थे, और ये सभी इस्लामिक आधार पर पढ़ाए जाते थे। शिक्षा का माध्यम अरबी भाषा थी। इसी तरह, 1784 में सर विलियम जोन्स ने कलकत्ता में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की स्थापना की। जैसा कि जोन्स का कहना था, इसके पीछे एशिया को जानने की उत्सुकता थीः "(जो) विज्ञान की पालक, आनन्ददायी और उपयोगी कलाओं की आविष्कारक, भव्य कार्यों की भूमि, मानवीय मेधा की उपजाऊ उत्पादक, प्राकृतिक आश्चर्यों से भरपूर, और धर्म तथा सरकार के प्रकारों में, कानूनों में, रहन–सहन में, रीति–रिवाज़ों में और व्यक्ति के आकार–प्रकार में असीमित रूप से विविध (थी)" (घोष 1993:177 में उद्धृत)। यूरोप के लिए भारत को खोलने की वही कहानी आगे बढ़ी जब 1792 में जोनाथन डंकन ने हिन्दुओं के कानूनों व साहित्य को सुरक्षित रखने व संवारने के लिए बनारस में संस्कृत कॉलेज की स्थापना की। ऐलफिंन्सटोन ने भी ठीक यही किया जब उन्होंने 1820 में पूना में एक हिन्दू कॉलेज की स्थापना की।

इस पड़ाव पर हमें एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाने की ज़रूरत हैः इस पूर्वाभिमुखी मार्ग का गहरा अर्थ क्या था? क्या यह केवल प्रेम व सहिष्णुता की भावना से किया गया कार्य था; देशी ज्ञान व्यवस्था को समझने और उसका आदर करने की स्वाभाविक प्रेरणा थी? कुछ लोगों के लिए यह बात स्वीकार्य हो सकती है। फिर भी, असली बात तो यही है कि इस पूर्वाभिमुखी रास्ते को अपनाने के पीछे कई राजनैतिक उद्देश्य थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी अभी

तक अपने बारे में निश्चिंत नहीं थीं। अतः स्थानीय सम्भ्रान्त लोगों की सद्भावना हासिल करना महत्वपूर्ण था। उन्हें यह विश्वास दिलाना ज़रूरी था कि ब्रिटिश लोग सांस्कृतिक आक्रमणकारी नहीं थे। इसके अलावा, जैसा कि अपर्णा बसु ने दर्शाया है, कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिए यह ज़रूरी था कि वे देश पर शासन करने में उन्हें मदद कर सकने वाले 'ऐसे भारतीय अफसर ढूँढ़ सकें जो संस्कृत, फारसी व अरबी का अच्छा खासा ज्ञान रखते हों। दूसरे शब्दों में, देशी शिक्षा व्यवस्था में यह संलग्नता भी राजनैतिक तौर पर भारतीय उपमहाद्वीप को नियंत्रित करने के मंसूबे का ही एक हिस्सा थी।

परन्तु चीज़े बदलने लगीं। पूर्वाभिमुखी शिक्षा को प्रोत्साहन देने की नीति से हर व्यक्ति खुश नहीं था। इसके बजाय, यह महसूस किया गया कि इस "पतनोन्मुख" सभ्यता को सुधारने के लिये अँग्रेज़ी/आधुनिक शिक्षा को लागू करने की ज़रूरत थी। चार्ल्स ग्रान्ट निश्चित ही एक निर्णायक मोड़ था– आंग्ल नीति को बढ़ावा देने के पीछे मौजूद शक्तिशाली बल। ग्रान्ट, जो लगभग चालीस सालों से कलकत्ता व लन्दन में ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रशासन से जुड़ा हुआ था, ने 1792 में अपना प्रसिद्ध शोध प्रबन्ध (Observations on the state of society among the Asiatic Subjects of Great Britian, particularly is respect to morals, and the means to improve it–) ग्रेट ब्रिटेन के आश्रित एशियाई देशों की सामाजिक दशाओं पर किए गए अवलोकन, खासतौर पर नैतिकचर्या के सम्बन्ध में; तथा उसको सुधारने के तरीके) लिखा। ग्रान्ट के दस्वावेज का एजेण्डा केवल शैक्षिक ही नहीं था; वह मुख्यतः भारतीय संस्कृति और सभ्यता पर दिया गया फैसला था। इसने औपनिवेशक स्वामियों के दम्भ, तथा सांस्कृतिक विजय की उनकी दबाई ना जा सकने वाली तीव्र इच्छा को उजागर किया। ग्रान्ट ने हिन्दुओं पर बेईमान, भ्रष्टाचारी, धोखेबाज, आपसी वैमनस्य रखने वाले तथा अविश्वासी होने का आक्षेप लगाया। ग्रान्ट ने लिखा, "हिन्दू गलती करते हैं क्योंकि वे अज्ञानी हैं।"

आश्चर्य नहीं है कि पूर्वाभिमुखी शिक्षा को लेकर अपनी समीक्षा में ग्रान्ट का रुख बहुत स्पष्ट था। उसका मानना था कि, ईस्ट इंडिया कम्पनी की कोई मज़बूरी नहीं थी कि वह हिन्दुओं के पंथ की रक्षा करे जो न केवल भयानक था बल्कि "तर्क, नैतिकता और धर्म के पहले सिद्धान्तों का विनाशक" भी था। ग्रान्ट के लिए जवाब साफ था। उसका मानना था कि भारत को ईसाईयत, आधुनिक विज्ञान और यूरोपीय साहित्य की आवश्यकता थी। वह चाहता था कि अँग्रेज़ी अधिकारिक भाषा हो, इसके अलावा उसने "अच्छे नैतिक चरित्र" वाले शिक्षकों के अधीन अँग्रेज़ी स्कूलों की स्थापना किए जाने की वकालत की। यह मुख्यतः ग्रान्ट की अपील का ही परिणाम था कि ब्रिटिश संसद में एक बिल लाया गया ताकि भारतीयों के निर्णायक बदलाव के लिए धर्म प्रचारकों और स्कूल शिक्षकों को भारत भेजा जा सके। पर फिर, कम्पनी के अधिकारियों को लगा कि इस तरह का कदम उठाने से देश में राजनैतिक अस्थिरता पैदा हो जाएगी। उन्होंने इस बिल की निन्दा की। और संसद के दोनों सदनों में अपने कुछ सम्बन्धों के चलते वे इस बिल को पराजित करने में कामयाब हो गए।

फिर भी, ग्रान्ट के विचार महत्वपूर्ण थे क्योंकि वह बदलते समय की भाषा बोल रहा था। वह ब्रिटेन में उभरते हुए पूँजीवादी वर्ग, व भारत में छिपे उसके आर्थिक हितों से पूरी तरह से वाकिफ था। गान्ट का मानना था कि अँग्रेज़ी शिक्षा स्थानीय लोगों में ब्रिटिश सामानों के प्रति रूचि पैदा कर देगी। दूसरे शब्दों में, वह वाणिज्य तथा शिक्षा में नज़दीक सम्बन्ध देख रहा था। यह समझना भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि ग्रान्ट तर्क के युग का व्यक्ति था जब आधुनिक यूरोप का अपने प्रति, अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों और अपनी तर्कशक्ति के प्रति भरोसा बढ़ता जा रहा था। इसी भरोसे के चलते इस औपनिवेशिक शक्ति का अपने (दूसरों को) 'सभ्य बनाने' के मिशन के प्रति विश्वास बढ़ाः अपने ज्ञान, तार्किकता और विज्ञान के चलते पश्चिम को यह अधिकार था कि वह बाकी दुनिया को शिक्षित बनाए! दूसरे शब्दों में, बिल के खारिज हो जाने के बावजूद ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिए चार्ल्स ग्रान्ट द्वारा उठाई गई माँगों– अर्थात् शैक्षिक रुपान्तरण और उसके परिणाम स्वरूप भारतीय सभ्यता में होने वाला 'सुधार – को रोक पाना मुश्किल होता जा रहा था।

उदाहरण के लिए 1813 में कम्पनी के चार्टर में एक खण्ड डाला गया जिसके द्वारा गवर्नर जनरल के लिए यह "बाध्यकारी तो नहीं, लेकिन विधि संगत" हो गया कि वह शिक्षा के लिए एक लाख रुपए तक की राशि

निर्धारित कर सकता था। हालाँकि, यह उल्लेख किया गया था कि यह राशि साहित्य के पुनरुद्धार व सुधार पर तथा शिक्षित भारतीयों को प्रोत्साहित करने पर खर्च की जाएगी, पर साथ ही यह भी तय किया गया कि राशि का एक भाग स्थानीय लोगों के बीच विज्ञान के अध्ययन की शुरुआत करने और उसे बढ़ावा देने पर खर्च किया जाएगा।

यह समय उपयोगितावादियों का भी था। 1817 में कम्पनी के साथ नज़दीकी तौर से जुड़े मशहूर उपयोगितावादी जेम्स मिल ने अपनी कृति ब्रिटिश भारत का इतिहास प्रकाशित किया जिसमें एक पक्के औपनिवेशिक स्वामी की तरह उसने भारतीय सभ्यता, उसकी संस्कृति, धर्म और ज्ञान व्यवस्था की निन्दा की। ईस्ट इंडिया कम्पनी के मामलों में उसके प्रसिद्ध बेटे जॉन स्टुअर्ट मिल—एक और उपयोगितावादी— की उपस्थिति ने भारत में आधुनिक/यूरोपीय शिक्षा के विचार को और बढ़ावा दिया। और थॉमस बैबिंगटन मैकॉले के उद्भव से चीज़ें आमूल रूप से बदल गईं। मैंकॉले उपयोगितावादी था; वह उपयोगितावादी गवर्नर जनरल विलियम बैंटिंक के साथ नजदीकी तौर पर जुड़ा हुआ था। बल्कि, वह बैंटिक की परिषद का कानूनी सदस्य था। आधुनिक/अँग्रेज़ी शिक्षा की श्रेष्ठता में मैकॉले का भरोसा अडिग था। मैकॉले जानता था कि उपनिवेशवाद को कैसे वैधता प्रदान की जाए तथा उसके "सभ्य बनाने" के मिशन को कैसे उचित ठहराया जाए। वह यह साबित करने के लिए आतुर था कि आधुनिक/अँग्रेज़ी शिक्षा ब्रिटिश सभ्यता की तरफ से एक उपहार होगी; उसके मानवतावाद तथा राजनैतिक परहितवाद की प्रतीक।

10 जुलाई , 1833 को उसने ब्रिटिश संसद में अपना प्रसिद्ध भाषण दिया। उसने कहा:... ऐसी शक्ति का क्या अर्थ जो अवगुणों, अज्ञानता, और दुर्दशा पर आधारित हो? उसका क्या अर्थ, यदि हम उसे केवल उन सर्वाधिक पवित्र कर्तव्यों का उल्लंघन करके ही बनाए रख सकें, जिनके लिए हम शासकों की हैसियत से शासितों के प्रति उत्तरदायी हैं, और जिनके लिए सामान्य से कहीं ज़्यादा राजनैतिक स्वतंत्रता व बौद्धिक ज्ञान से सम्पन्न लोगों की हैसियत से हम उस जाति के प्रति उत्तरदायी हैं जिसे तीन हज़ार सालों से तानाशाही व पुरोहिती प्रपंचों ने नष्ट किया हुआ है? हमारा स्वतंत्र होना, हमारा सभ्य होना किसी अर्थ का नहीं, यदि हम मानव जाति के किसी भी हिस्से के द्वारा इसी स्तर की स्वतंत्रता और सभ्यता हासिल करने के प्रति अनिच्छा रखते हैं।

बैंटिंक को पता था कि वह मैकॉले पर निर्भर कर सकता है। 1823 में स्थापित की गई सार्वजनिक शिक्षण की सामान्य समिति, प्राच्यवादियों व आंग्लावादियों में बँटी हुई थी। दोनों समूहों ने जनवरी 1833 में बैंटिंक से अपील की। और, बैंटिंक ने कानूनी सदस्य एवं सार्वजनिक शिक्षण समिति के अध्यक्ष की दोहरी भूमिकाओं में काम कर रहे मैकॉले से अपने विचार बताने को कहा। इसका नतीजा था मैकॉले का प्रसिद्ध 2 फरवरी, 1835 का ब्यौरा।

चार्ल्स ग्रान्ट की तरह मैकॉले भी सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का हिमायती था। उसके मन में हमारी संस्कृति, धर्म या ज्ञान के लिए ज़रा सा भी सम्मान नहीं था। वह पूर्वाभिमुखी शिक्षा की संस्थाओं को जारी रखने के खिलाफ था क्योंकि उसके अनुसार ये संस्थाएँ कोई भी उपयोगी उद्देश्य पूरा नहीं करती थीं। उसने वकालत की कि पूर्वाभिमुखी किताबों की छपाई बन्द कर देना चाहिए, दिल्ली और बनारस को छोड़कर सभी जगह के प्राच्यवादी कॉलेजों को बन्द कर देना चाहिए तथा सारी छात्रवृत्तियाँ रोकी जानी चाहिए। मैकॉले अँग्रेज़ी शिक्षा की श्रेष्ठता के बारे में निश्चित था। उसका मानना था कि अँग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम होना चाहिए, क्योंकि.... भारत के इस हिस्से के रहवासियों के बीच आमतौर पर बोली जाने वाली भाषाओं में, न तो साहित्यिक न ही वैज्ञानिक जानकारी होती है, इसके अलावा वे इतनी तुच्छ व असभ्य हैं कि जब तक उन्हें किसी दूसरे स्त्रोत के द्वारा समृद्ध नहीं किया जाता, तब तक उनमें किसी मूल्यवान रचना का अनुवाद करना आसान नहीं होगा।

मैकॉले को न तो संस्कृत का कोई ज्ञान था न ही अरबी का। फिर भी उसने दम्भ से यह कहा: "एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की अलमारी का एक खण्ड उतना ही मूल्यवान है जितना भारत और अरब का पूरा स्थानीय साहित्य"। उसका मानना था कि अँग्रेज़ी शिक्षा एक उपयोगी उद्देश्य पूरा करेगी। यह भारतीयों को सभ्य व शिक्षित बनाएगी; और फिर वे शासकों व शासितों के बीच मध्यस्थ का काम करेंगे और साथ ही जनसाधारण के

बीच ज्ञान का प्रसार कर पाएँगे। मैकॉले के अनुसारः

अभी हमें पूरा प्रयास करना चाहिए कि ऐसा वर्ग तैयार हो सके जो हमारे, एवं हमारे द्वारा शासित लाखों लोगों के बीच मध्यस्थ का काम कर सके, एक ऐसा वर्ग जो रक्त और वर्ण से तो भारतीय हो, पर अपनी पसन्द, राय, आचरण और बुद्धि के हिसाब से अँग्रेज़ हो। और फिर इसी वर्ग के ऊपर हम यह कार्य छोड़ सकते हैं कि वे देश की स्थानीय बोलियों को परिष्कृत करें, पश्चिमी शब्दकोष से लिए गए पदों से इन बोलियों को समृद्ध बनाएँ और धीरे–धीरे उन्हें ऐसे उपयुक्त वाहन प्रदान करें कि वे जनता की विराट आबादी तक ज्ञान पहुँचा सकें।

कोई शक नहीं, कि बैंटिंक, उपयोगितावाद में अपने दृढ़ विश्वास के कारण, मैकॉले के ब्यौरे से खुश था। मैकॉले ने लड़ाई जीत ली तथा बैंटिंक ने 7 मार्च, 1835 को आदेश पारित कियाः महामहिम की यह राय है कि ब्रिटिश सरकार का महान उद्देश्य भारत के निवासियों के बीच यूरोपीय साहित्य व विज्ञान को प्रोत्साहन देना होना चाहिए, और शिक्षा के उद्देश्य के लिए निर्धारित की गई राशियों का सबसे बेहतर उपयोग होगा उन्हें अँग्रेज़ी शिक्षा के लिए उपयोग में लाना।

बैंटिंक का आदेश कम्पनी की आर्थिक ज़रूरतों के मुताबिक था। वह जानता था कि ईस्ट इंडिया कम्पनी गम्भीर आर्थिक संकट से गुज़र रही थी। उसका एक प्रमुख दायित्व था बचत करना। और चूँकि व्यय का एक प्रमुख स्त्रोत ब्रिटिश अधिकारियों की ऊँची तनख्वाह थी, उसने न्यायिक/राजस्व शाखाओं में अधीनस्थ कर्मचारियों के रूप में भारतीयों को नियुक्त करने के बारे में सोचा। ऐसे भारतीयों के लिए अँग्रेज़ी जानना आवश्यक था।

मैकॉले की शिक्षा नीति, जैसा कि हम प्रमाणित करना चाहते हैं, एक निर्णायक मोड़ थी। इसने उपनिवेशवाद के 'सभ्य बनाने' के मिशन को वैधता दी, पश्चिम के सांस्कृतिक प्रभुत्व को बढ़ावा दिया और, सर्वोपरि रूप से, एक ऐसी सोच पैदा की जो दास भाव से पश्चिम–उसके मूल्यों, संस्कृति, और धर्म–पर निर्भर करती थी। वास्तव में, लॉर्ड हार्डिंग गलत नहीं था जब 1844 में उसने रानी विक्टोरिया को यह लिखा–

पश्चिमी साहित्य हिन्दुओं के बीच उनके स्कूलों और कॉलेजों में पढ़ा जाने वाला सबसे पसन्दीदा अध्ययन है। वे एकदम बारीकी के साथ ब्रिटिश इतिहास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटनाओं की चर्चा करते हैं। 15 वर्षीय काले रंग के लड़के शेक्सपियर के सबसे पंसदीदा उद्धरण सुना देते हैं, साथ ही अँग्रेज़ और जर्मन टीकाकारों की टिप्पणियाँ भी उद्धृत कर देते हैं।

यह सच है कि हर व्यक्ति ने मैकॉले द्वारा प्राच्य ज्ञान की निन्दा किए जाने को ठीक नहीं माना। उदाहरण के लिए, हम जानते हैं कि वुड्स डिस्पैच (1854) की क्या राय थीः कि पूर्वाभिमुखी संस्थाएँ "ऐतिहासिक और पुरातनिक उद्देश्यों" के लिए ज़रूरी थी। वुड्स डिस्पैच ने हिन्दू और मुस्लिम कानूनों को पढ़ने के लिए प्राच्य भाषाओं की महत्ता पर जोर दिया। हंटर आयोग (1822) भी स्थानीय ज्ञान व्यवस्था के पक्ष में प्रतीत हुआ। फिर भी, इन "रियायतों" के बावजूद तथ्य यही था कि आधुनिक/अँग्रेज़ी शिक्षा की संज्ञानात्मक श्रेष्ठता के विचार को कोई चुनौती नहीं थी। वुड्स डिस्पैच ने भी स्पष्ट ढंग से यह कहा कि शिक्षा की प्रकृति "यूरोप की उन्नत कलाएँ, विज्ञान और साहित्य" होना चाहिए और यह भी कहा कि पूर्वी प्रणालियाँ गम्भीर त्रुटियों से भरी पड़ी हैं।

वस्तुतः अँग्रेज़ी शिक्षा के प्रलोभन से बच पाना मुश्किल था; शिक्षित भारतीय भी इसे चाहते थे। 'नवजागरण' पुरुष, राजा राममोहन राय अँग्रेज़ी शिक्षा में अन्तर्निहित सम्भावना इन्कार नहीं कर सके। यह नहीं भूलना चाहिए कि 1823 में रॉय ने कलकत्ता में संस्कृत कॉलेज की स्थापना किए जाने की मुखाल्फत की थी। असल में रॉय उस युग की मनोदशा को प्रगट कर रहे थे। उभरते हुए मध्यम वर्ग के लिए अँग्रेज़ी शिक्षा गतिशीलता का स्त्रोत, व आधुनिकता को अनुभव करने का मौका थी।

पोरोमेश आचार्य ने शानदार ढंग से दर्शाया है कि कैसे बंगाली भद्रलोक उन्नीसवीं सदी के बंगाल में आधुनिक/अँग्रेज़ी शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए औपनिवेशिक स्वामियों के साथ गठजोड़ में शामिल थे।

भद्रलोक–नए युग के "वायदों" से प्रलोभित महत्वाकांक्षी वर्ग– के लिए समाज के व्यापक वर्गों के हितों का कोई मतलब नहीं था। और जैसा कि आचार्य हमें याद दिलाते हैं, कोई आश्चर्य नहीं कि इन लोगों ने गवर्नर जनरल मेयो एवं लेफ्टिनेंट गवर्नर जॉर्ज कैम्पबेल द्वारा जनसाधारण के बीच देशी शिक्षा का प्रसार करने के प्रयासों का भी विरोध किया था। चाहे विद्यासागर हों या राजेन्द्रलाल मित्रा, केशव चन्द्र सेन हों वर्ग हितों के पूर्ति होते देखी। अपने हितों को सुरक्षित रखने के चक्कर में, उन्होने सम्भ्रान्तवादी शिक्षा के नकारात्मक प्रभावों– उसके औपनिवेशिक चरित्र, उसके दम्भ तथा व्यापक समुदाय के अनुभवों के प्रति उसकी उदासीनता को अनदेखा कर दिया। अधिकांश भारतीय युवाओं– खासतौर पर कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में– ने तो इस शिक्षा में विभिन्न ब्रिटिश प्रतिष्ठानों में रोजगार पाने का मौका देखा।

## पर तीन बिन्दु ध्यान में रखने लायक हैं:

1. अँग्रेज़ी शिक्षा की चकाचौंध के बावजूद इसके भारतीयों की तथाकथित तकनीकी/वैज्ञानिक ज्ञान हासिल करने में कोई मदद नहीं की जो औद्योगिक विकास परियोजना को पूरा करने के लिए आवश्यक था ऐसा इसलिए क्योंकि अँग्रेज़ी शिक्षा का चरित्र मुख्यतः किताबी था। उदाहरण के लिए, 1832 में हिन्दू कॉलेज, कलकत्ता की प्रथम वर्ष की कक्षा के पाठ्यक्रम में के विषय थेः इतिहास, मुख्यतः यूनान, रोम, इंग्लैण्ड व आधुनिक यूरोप का; गणित तथा भूगोल। इसलिए बार–बार यह कहा गया कि पाठ्यक्रम को हमारी व्यावहारिक ज़रूरतों के हिसाब से ढालने की ज़रूरत है। वुड्स डिस्पैच ने भी शिक्षण के पूर्णतः किताबी चरित्र की कमज़ोरियों की बात की और कानून, चिकित्सा तथा इंजीनियरिंग के क्षेत्र में व्यावसायिक प्रशिक्षण की ज़रूरत पर ज़ोर दिया। हंटर आयोग ने भी व्यावसायिक शिक्षा को बहुत महत्ता दी। इसी तरह, कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग (1917) ने अपने पाठ्यक्रमों में व्यावहारिक विज्ञान व प्रौद्योगिकी को शामिल करने का आग्रह किया। लेकिन, इन अनुशंसाओं के बावजूद उत्पादक गतिविधियों में सार्थक कार्य करने हेतु ज़रूरी तकनीकी–व्यावसायिक कौशल शिक्षित भारतीयों को उपलब्ध नहीं थे। बल्कि, मार्टिन कार्नाय गलत नहीं था जब उसने कहाः

   ब्रिटिश हुकूमत ने भारतीय लोगों में अर्थशास्त्र, प्रौद्योगिकी, विज्ञान और राजनीति के बुनियादी सिद्धान्तों की गहरी समझ विकसित करने की कोशिश नहीं की; इसके बजाय वे अपने शिष्यों को अँग्रेज़ी साहित्य, दर्शन शास्त्र व तत्व मीमांसा (मैटाफिजिक्स) की अत्यन्त दासोचित व नकलची ढंग से नकल करने, व उन्हें उद्धृत करने के लिए मज़बूर करके सन्तुष्ट हो जाते थे।

2. किताबी शिक्षा को दिए जाने वाले अत्यधिक महत्व के कारण शिक्षित भारतीय सरकारी नौकरियों पर बहुत अधिक निर्भर करते थे, और उनके लिए ज़्यादा विकल्प मौजूद नहीं रह गए थे। इसके अलावा, 1857 में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में तीन विश्वविद्यालयों की स्थापना के साथ ही उम्मीदवारों की संख्या बढ़ाना शुरू हो गई। इसके चलते नौकरियों की कमी हो गई और शिक्षित युवाओं में कुण्ठा पनपने लगी। आश्चर्य नही कि देश के कई हिस्सों में एक आन्दोलन शुरू हो गया जिसका उद्देश्य था भारतीय सिविल सेवा परीक्षाओं में बैठने के पात्र होने की अधिकतम आयु को 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष कर देने के निर्णय का विरोध करना। कहने की ज़रूरत नहीं कि ब्रिटिश सरकार यह राजनैतिक उठापटक, और शिक्षित भारतीयों के बीच बढ़ रहा असंतोष ठीक नहीं लगा। इसी समय हंटर आयोग ने सुझाया कि सरकार को ऊँचे दर्ज़े की शिक्षा के क्षेत्र से पीछे हट जाना चाहिए। आखिर, हंटर खुद यह मानता था कि वही शिक्षा, जो ब्रिटिश हुकूमत ने भारतीयों को दी थी, अब विपरीत परिणाम देने लगी थी। हंटर को इस बात पर रोष था क्योंकि उसका सोचना था कि भारतीय उन्हीं लोगों के खिलाफ विद्रोह कर रहे थे जिन्होंने उन्हें संसार देखना सिखाया। उसकी दृष्टि में, वे लोग अनुशासन के, धर्म के, और संतोष के सिद्धान्त का विद्रोह कर रहे थे। हम यह बताने की कोशिश कर रहे हैं कि औपनिवेशिक स्वामियों के लिए यह विरोधाभासी स्थिति थी।

गान्ट और मैकॉले ने सोचा था कि उनके लिये भारतीयों को 'शिक्षित' करना ज़रूरी है। पर शिक्षित करने के इसी कार्य ने भारतीयों को 'अवज्ञाकारी' बना दिया। यह बोध होने पर उन्होनें शिक्षा पर अपना नियंत्रण और बढ़ा दिया। शिक्षा पर पूरी तरह से नियंत्रण करने के लॉर्ड कर्जन के प्रयास को इसी सन्दर्भ में देखे जाने की ज़रूरत है। कर्जन ने महसूस किया कि यदि ऐसा नहीं किया गया तो भारतीय विश्वविद्यालय "असन्तुष्ट चरित्रों व कुण्ठित दिमागों की पौध खड़ी करने की जगह" बन जाएँगे। जैसा कि हमने पहले भी कहा है, हकीकत यह थी कि औपनिवशिक शिक्षा को सत्ता के तर्काधार से कभी अलग नहीं किया जा सकता था। इस शिक्षा का प्राथमिक लक्ष्य स्वतंत्रता व आत्मनिर्भरता का बोध विकसित करना नहीं था। इसका उद्देश्य था भारतीयों के मन को गुलाम बनाना। नतीजतन वह ऐसे सूक्ष्मतम विद्रोह को भी बर्दाश्त नहीं कर सकी।

3. तो कोई आश्चर्य नहीं, कि जहाँ तक लोक शिक्षण का सवाल था, यह व्यवस्था बुरी तरह से असफल हो गई। पर इस परिस्थिति को सम्हालने के लिए अनुशंसाओं की कोई कमी नहीं छोड़ी गई। मैकॉले की "रिसाव नीति" की समीक्षा करते हुए वुड्स डिस्पैच ने ज़ोर दिया कि लोक शिक्षण को प्रोत्साहन देने के लिये स्थानीय भाषाओं को बढ़ावा दिया जाना ज़रूरी है। डिस्पैच ने यह भी सुझाया कि जनता को अच्छी धर्मनिरपेक्ष शिक्षा व सरकारी निर्देश देने के लिए सभी स्कूलों को मदद दी जाना चाहिए। पर साथ ही सरकार ने छात्रों से शुल्क वसूलने का निर्णय लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि ज़्यादा धनी लोग ही अपने बच्चों की स्कूली शिक्षा का शुल्क दे सके। लोक शिक्षण की इस नीति की असफलता को किसी भी तरह से छुपाया नहीं जा सकता था। उदाहरण के लिए हर्टोग समिति (1929) ने बताया कि 1922–23 में कक्षा 1 में दाखिला लेने वाले हर सौ लड़कों में से केवल 19 ही 1925–26 में चौथी कक्षा में पढ़ते हुए पाए गए। असफलता की इसी कहानी के चलते 1944 की सार्गनेट योजना को एक बार फिर हवाई बाते करनी पड़ीः 6 से 14 साल के बच्चों के लिये निशुल्क/अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था होना चाहिए। लोक शिक्षण की इस असफलता ने एक बार फिर उजागर कर दिया कि औपनिवेशिक स्वामी क्या चाहते थे। उनके द्वारा शुरू की गई शिक्षण प्रणाली का उद्देश्य सामूहिक सशक्तिकरण नही था। बार–बार उन्होंने अपने "सभ्य बनाने" के मिशन की, तथा भारतीयों को शिक्षित करने के अपने "कर्तव्य" की बात की। पर बिरले ही वे अपने व्यावसायिक उद्देश्यों के परे जा सके; वे सर्वव्यापी प्राथमिक शिक्षा के लिए खुद को पूरे मन से समर्पित नहीं कर सके। गोखले को इस कटु सत्य का एहसास तब हुआ जब 1912 में उनका बिल–जो देश भर में प्राथमिक शिक्षा का निशुल्क और अनिवार्य बनाने हेतु उन्होंने विधान परिषद के समक्ष प्रस्तुत किया था– नकार दिया गया।

तो अन्त में, यह कहा जा सकता है कि औपनिवेशिक शिक्षा ने अँग्रेज़ी की शिक्षा प्राप्त बाबुओं (जो मुख्यतः ऊँची जातियों के थे) का एक छोटा–सा वर्ग तैयार किया, तथा प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में यह बुरी तरह से असफल रही। फिर भी, यह कहा जा सकता है कि औपनिवेशिक शिक्षा के बारे में सब कुछ बुरा ही नहीं था। आखिरकार, पश्चिम–उसकी ज्ञान व्यवस्थाओं– के साथ इस परिचय ने निश्चित ही एक महत्वपूर्ण जागरूकता पैदा की। इसका नतीजा यह हुआ कि भारतीय नेताओं–राममोहन से लेकर नेहरू तक– ने अपने अतीत को देखा, उसकी विकृतियों से लड़े, तर्क के नए युग का स्वागत किया, और अन्त में अँग्रेज़ों से लड़े। पर, यह ध्यान में रखना होगा कि दासता से मुक्ति का यह कार्य कभी पूरा नहीं हुआ। क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्यवादिता का विरोध करते हुए भी, इनमें से सारे लोग ऐसे नहीं थे जो अपने मानस को औपनिवेशक अवधारणाओं व मान्यताओं से मुक्त कर सके हों। दूसरे शब्दों में, एक – शिक्षित भारतीय के जीवन में पश्चिम की उपस्थिति स्थायी थी (और है)। तो मार्टिन कार्नाय का यह कथन निश्चित ही कोई अतिरंजना नहीं हैः

आज भी भारतीयों के लिए इस ढाँचे को तोड़ पाना बहुत मुश्किल है। वे खुद को ब्रिटिश प्राध्यापकों के ज़्यादा नज़दीक पाते हैं बनिस्बत हिन्दू किसानों के, जिनके साथ तो वे बात तक नहीं कर पाते।

हकीकत यह है कि अँग्रेज़ी शिक्षा ने हमारे सामूहिक मानस को गम्भीर क्षति पहुँचाई। हमारा अपने आप से विश्वास उठ गया; हममें से कई लोग हमारे अपने सांस्कृतिक संसाधनों को काम में नहीं ला पाए। जैसा कि कृष्णकुमार ने कहा है, औपनिवेशिक नागरिक हमारा शैक्षिक आदर्श बन गया। हम भी उसी की भाषा बोलने लगे। बल्कि, कृष्णकुमार के अनुसारः

शिक्षा एक नए प्रकार की धर्मनिरपेक्ष नस्ल का प्रतीक बन गई।

इसका मतलब था "उद्धार" और "मुक्ति"। इसका मतलब था "अज्ञानी" जनसाधारण के विशाल समूह से अलग सम्भ्रान्त लोगों के विशिष्ट क्लब में प्रवेश। चलिए हम नज़र डालते हैं कि व्योमेशचन्द्र बनर्जी ने 1856 में इंग्लैण्ड से क्या लिखा थाः

"मैंने जाति से जुड़ी सभी बातों को त्याग दिया है। मैं अपने देशवासियों के सभी हतोत्साहित करने वाले सिद्धान्तों से नफरत करने लगा हूँ। मैं पूरी तरह से बदला हुआ व्यक्ति बन गया हूँ।"

यह नतीजा निकला! दम्भ, आधुनिक/पश्चिमी शिक्षा का एक सह–उत्पाद बन गया है। औपनिवेशिक स्वामी की तरह, शिक्षित भारतीय भी यह सोचने लगा कि उसके देशवासी अज्ञानी और अन्धविश्वासी थे, तथा यह ज़रूरी था कि वह पश्चिमी ज्ञान के साथ उन्हें "सभ्य बनाए" तथा समाज में 'व्यवस्था' को पुनः कायम करे। मैकॉले केवल ऐतिहासिक याद नहीं बना रहा। वह हमारी आत्माओं में प्रवेश कर गया। हमने खुद पर आक्रमण होने दिया। हमने अपने आदर्शों को भुला दिया।, यह विडम्बना थी कि इस पूरी प्रक्रिया को शिक्षा का नाम दिया गया।

## उपनिवेशवाद, पुनर्जागरण और नीची जातियों की प्रतिक्रिया

औपनिवेशिक शिक्षा के एजेंडे से सारे लोग तो सन्तुष्ट नहीं रह सके। इसमें कोई शंका नहीं, कि इसके विरोधी भी थे। पर इस असन्तोष के बारे में और अधिक जानने से पहले, यह ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है कि औपनिवेशिक शिक्षा, उसकी दम्भी प्रकृति, और उसके सांस्कृतिक प्रभुत्व की समालोचना विकसित होने के दौर में, किसी प्रकार के पुनर्जागरण की सम्भावना हमेशा मौजूद रही। जैसा कि हम जानते हैं, अक्सर पुनर्जागरण का अर्थ होता था हिन्दुओं के अतीत एवं हिन्दू आदर्शों का महिमामण्डन करना ताकि हिन्दू की "वास्तविक" पहचान को पुनः स्थापित किया जा सके जो, ऐसा डर था, कि औपनिवेशिक आक्रमण के कारण नष्ट हो जाएगी। हमारे जैसे बहुधार्मिक समाज में पुनरोत्थान हमेशा बेहद प्रभुत्ववादी होगा; वह अल्पसंख्यक समुदायों की पहचान को मिटा देना चाहेगा। दूसरे शब्दों में, यह समाज के दमित तथा हाशिए पर जी रहे वर्गों की स्वतंत्रता को नष्ट कर सकता है।

यह आशंका एकदम गलत भी नहीं थी, क्योंकि वाकई 'राष्ट्रीय' उद्देश्यों में पुनर्जागरणवादी धारा मौजूद थी। इसके अलावा, निचली/दमित जातियाँ अपना उद्धार चाहती थीं जो, शायद उन्हें ऐसा लगा हो, कि एक मददगार औपनिवेशिक राज्य (जिसके पास आधुनिक कानूनी व्यवस्था थी व उदार मूल्य थे) में हो सकता था, बनिस्बत राष्ट्रवादी सम्भ्रान्त लोगों के नेतृत्व में। इसलिए आश्चर्य नहीं, कि औपनिवेशिक शिक्षा को लेकर नीची जातियों की प्रतिक्रिया मिश्रित थी। औपनिवेशिक शिक्षा को पराया न मानते हुए इन लोगों ने इसमें खुद के, अर्थात् भारत की हाशिए पर जीने वाली जातियो के उद्धार के लिए बड़ी सम्भावनाएँ तलाशीं।

शिक्षा के क्षेत्र में ज्योतिराव फुले के हस्तक्षेप को ध्यान से देखने पर हम इस जटिलता को समझ सकते हैं। फूले के जीवनी लेख हमें बताते है ंकि वे अपने निकटतम पूर्वजों द्वारा झेले गए अनुभवों–पेशवाओं के शासन से असन्तोष–को भूल नहीं पाए थे। इस घोर निरंकुश शासन में न्याय और गरिमा के लिए कोई जगह नहीं थी। इसके अलावा, अपने बहुत से अपराधों के लिए ब्राह्मण विधि के द्वारा नियत सज़ा की तुलना में बहुत हल्की सज़ा पाकर छूट जाते थे। इसलिए अचरज नहीं कि ज्योतिराव ने ब्रिटिश शासन में प्रगतिवादी सम्भावना देखी। कम से कम पेशवा शासन की कुप्रथाओं से तो छुटकारा मिल ही गया था। इसके अलावा, ब्रिटिश शासन में जाति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाता था जो, उन्हें लगा, कि सभी मनुष्यों की समानता के सिद्धान्त के अनुकूल था। इसके अतिरिक्त वे स्वतंत्रता ओर समानता के आधुनिक/उदारवादी/पश्चिमी मूल्यों से बेहद प्रभावित थे

और जैसा कि एम.एस. गोरे लिखते हैं, स्कॉटिश मिशन सेकेण्डरी स्कूल में विद्यार्थी की तरह से प्राप्त अपने अनुभवों के द्वारा फूले विज्ञान और धर्म के नए विचारों से अवगत हुए। ईसाई मिशनरियों ने कई बातों को लेकर हिन्दू धर्म की आलोचना की, जैसे मूर्तिपूजा, असंख्य देवी–देवता, सभी मनुष्यों को धार्मिक समानता प्रदान न करना, अन्धविश्वास के अत्याचार, और रोज़मर्रा के कर्मकाण्ड। यह सम्भव है कि ज्योतिराव ने इस समालोचना को काफी गम्भीरता से लिया हो। इसके अलावा उन्होंने थॉमस पेन का “एज ऑफ रीज़न” भी पढ़ा जिसने उनकी चेतना को दिशा दी (दरअसल, बाद में उन्होंने अपनी एक किताब थॉमस पेन को समर्पित भी की)।

इसलिए, पेशवा शासन की कुप्रथाओं व भ्रष्टाचार की तुलना में उन्होंने ब्रिटिश शासन की प्रगतिवादी सम्भावनाओं को चुना। ज्योतिराव के 1857 के विद्रोह को समर्थन न देने के पीछे भी यही कारण हो सकता है। इसके बजाय, उन्होनें ब्रिटिश सरकार की विजय का स्वागत किया।

यदि विद्रोह में ब्रिटिश सरकार हार गई होती, तो इतिहास अपने को दोहरा जाता। ब्राह्मणों का पेशवा शासन पुनर्जीवित हो उठता। धर्मग्रन्थों, स्मृतियों तथा पुराणों वाली हिन्दू संस्कृति को बढ़ावा मिलता और शूद्र तथा अति–शूद्र लोगों का उद्धार करने की आशा–जो ब्रिटिश सरकार के आगमन स्वरूप पैदा हुई थी– हमेशा के लिए धूमिल हो जाती।

फुले को यकीन था कि आधुनिक शिक्षा की मदद से आम आदमी ब्रिटिश सरकार की कानूनी व्यवस्था और वैज्ञानिक सुधारों से लाभ ले सकेगा और अपना पुनरोद्धार कर सकेगा। इस आशा के साथ फुले ने औपनिवेशिक राज्य से बार–बार अपील की। उदाहरण के लिए, 1882 में हंटर आयोग के सामने प्रस्तुति में उन्होने अपना पक्ष रखते हुए कहा कि सरकार को यह गलतफहमी नहीं होना चाहिए कि ऊँची जातियों के लोग नीची जातियों के बीच शिक्षा का प्रसार करेंगे। उन्होंने औपनिवेशिक राज्य से अपील की कि नीची जातियों से शिक्षकों की नियुक्ति की जाए क्योंकि उन्हें यह लगता था कि ब्राह्मण शिक्षकों के धार्मिक पूर्वाग्रह उन्हें नीची जातियों के बच्चों के साथ धुलने–मिलने नहीं देंगे।

पर, फुले केवल अपीलों से ही सन्तुष्ट नहीं थे। वे बातों के बजाय कुछ करने में यकीन रखते थे। वे शिक्षा के क्षेत्र में कूद पड़े और अपने खुद के स्कूल खोले। उन्होंने महसूस किया कि सच्चे या उदारवादी एजेंडे के लिए, आधुनिक शिक्षा, और शूद्रों तथा हिन्दू समुदाय की स्त्रियों, दोनों की प्रबुद्ध बनाया जाना, ज़रूरी मुद्दे थे। इस दृढ़ विश्वास के साथ उन्होंने अपनी पत्नी को शिक्षा प्राप्त करने के लिए सफलतापूर्वक राजी किया, और अन्त में दोनों ने मिलकर 1848 में एक स्कूल शुरू किया– ऐसा स्कूल जो अछूत जातियों जैसे महार, मांग और चमारों की लड़कियों के लिए भी खुला हुआ था। यह वही समय था जब पूणे, खासतौर पर, अति–रूढ़िवादी हिन्दू विचारधारा का गढ़ था। फुले के प्रयास को शास्त्रों, धर्म और समाज के खिलफ अपराध के रूप में देखा गया। पर फुले का संकल्प इतना दृढ़ था कि वे विभिन्न क्षेत्रों से आने वाली कठिनाइयों व रूकावटों (यहाँ तक उनके पिता ने भी उनके इस कार्य को पसन्द नहीं किया) को भी पार कर गए। नतीजतन, शिक्षा के क्षेत्र में उनके नए–नए कार्य जारी रहे। उन्होंने 1851 में दूसरा स्कूल खोला; और 1859 में तीसरा। पाठ्यक्रम में वाचन, व्याकरण, अंकगणित, भूगोल, इतिहास, नक्शा पढ़ना इत्यादि शामिल था।

ज्योतिराव के स्कूल बदलाव ला रहे थे। वे नई पीढ़ी के विद्यार्थियों की चेतना को आकार दे रहे थे। उदाहरण के लिए, अछूतों के लिए खोले गए उनके एक स्कूल की एक चौदह वर्षीय लड़की ने एक निबन्ध लिखा जिसमें उसने कहाः

“ब्राह्मण कहते हैं कि दूसरी जातियों को वेद नहीं पढ़ना चाहिए; इस वजह से हमारे पास कोई धर्मग्रन्थ नहीं रह जाता। तो क्या हमारे पास धर्म भी नहीं है? हे भगवान, कृपया हमें बताइए, हमारा धर्म क्या है? भगवान, आपकी कृपा है कि आपने दयालु ब्रिटिश सरकार को हमारे लिए भेजा। इससे हमे राहत मिली है और हमारा कल्याण हुआ हैं। ब्रिटिश लोगों के आगमन से पूर्व ऊँची जातियों के लोगों के खिलाफ अपराध कर देने पर महारों और मंगों का सिर कलम कर दिया जाता था। पहले, हमें सुल्तेकड़ी के बाज़ार में स्वतंत्रता से घूमने की अनुमति

नहीं थी, पर अब हम ऐसा कर सकते हैं।"

यह ज़रूर ध्यान में रखना होगा कि फुले का उद्देश्य केवल ब्रिटिश शासन के सकारात्मक/प्रगतिवादी लक्षणों को देखना ही नहीं था। उनकी दृष्टि कहीं गहरी थी। अपने सार्वजनिक सत्यधर्म के द्वारा उन्होंने एक नया समाज बनाना चाहा; ऐसा समाज जो गुणात्मक तौर पर पारम्परिक/ब्राह्मणवादी/ऊँच–नीच वाले समाज से अलग हो; ऐसा समाज जो धार्मिक मान्यताओं और क्रियाकलापों के बजाय आधुनिक/वैज्ञानिक ज्ञान का स्वागत करे; ऐसा समाज जहाँ सभी महिलाओं व पुरुषों का समान अधिकार प्राप्त हों, और खेती, कारीगारी और मज़दूरी जैसे पेशों को अपनाने वाले लोगों को गरिमाहीन नहीं माना जाए।

ज्योतिराव फुले के प्रयास दर्शाते हैं कि उपनिवेशवाद के प्रति लोगों ने विविध प्रकार की प्रतिक्रियाएँ दीं, और राष्ट्रवादी; योजना के लिए लोग पूरी तरह से एकमत नहीं थे। यह ध्यान में रखना भी ज़रूरी है कि ब्रिटिश शासन के प्रति नीची जातियों की प्रतिक्रिया का यह मतलब नहीं कि उन्होंने हमेशा औपनिवेशिक राज्य के प्रगतिवादी लक्षणों को ही देखा। बल्कि, उनका ब्रिटिश शासन के साथ एक जटिल सम्बन्ध रहा। उदाहरण के लिए, बी.आर. अम्बेडकर ने बार–बार यह उजागर किया कि कैसे ब्रिटिश हुकूमत नीची जातियों की शिक्षा के प्रति उदासीन बनी रही। यद्यपि, उन्हें लगता था कि ब्रिटिश शासन के आगमन से समाज के दबे–कुचले वर्गों में बड़ी आशाएँ जगी थीं, क्योंकि ब्रिटेन एक लोकतंत्र था जो, उन्हें लगता था कि, समानता के सिद्धान्त में विश्वास करता है।

।।।।।।।।।

## पठन सामग्री क्र.– 21

# समानता की खोज में

कृष्ण कुमार

**गुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद, ग्रंथ शिल्पी नई दिल्ली, 2006 (Political Agenda of Education, Sage publication, New Delhi 2005, pp 97.122) पर आधारित**

अँग्रेज़ी शिक्षा के विस्तार के कारण दलित व निम्नतर जातियों के बीच शिक्षा का प्रसार 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होने लगा था। हालाँकि यह नई शिक्षा बहुत कम लोगों तक पहुँच पाई थी, फिर भी दलित जातियों में एक छोटा सा शिक्षित वर्ग तैयार हो पाया। यह शिक्षित वर्ग सदियों पुराने दलितों के संघर्ष को आगे बढ़ाने में जुट गया। उस वर्ग ने अँग्रेज़ी शासन में एक मददगार तत्व पाया। इस कारण हमेशा अँग्रेज़ी शासन के प्रति उनका नजरिया दोहरा रहा, एक तरफ वे उसके आलोचक थे और दूसरी ओर, उससे अपने संघर्ष में एक सकारात्मक योगदान की अपेक्षा भी करते थे।

सार्वजनिक शिक्षा के सन्दर्भ में अँग्रेज़ी शासन की नीति यह थी कि पहले समाज के उच्च स्तर पर आधुनिक शिक्षा का प्रसार हो और अन्य निचले तबकों पर धीरे–धीरे उसका असर पड़े। महाराष्ट्र में निम्न जातियों के बीच शिक्षा का प्रसार कर रहे ज्योतिराव फुले ने इस शासकीय नीति की आलोचना की। अँग्रेज़ शासन द्वारा शिक्षा के विषय पर स्थापित हंटर आयोग के समक्ष फुले का कहना था कि अगर शासन आम लोगों का कल्याण चाहता है तो उसे उन तक सीधे शिक्षा पहुँचाने का काम करना चाहिए। न इन लोगों के पान सम्पत्ति है न सामाजिक हैसियत। लेकिन पूरा समाज इनकी मेहनत पर टिका हुआ है। ऐसे तबकों को शिक्षा से वंचित रखने से तमाम शासकीय पदों को उनसे दूर रखा जा रहा है।

फुले ने यहाँ अँग्रेज़ी शासन का उपयोग सदियों पुरानी निम्न जातीय संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए किया। उन्होंने शासन पर दबाव डाला कि वह अपनी कल्याणकारी भूमिका को प्रमाणित करने के लिए निम्न जातियों में शिक्षा का प्रसार करे।

हंटर आयोग को जो ज्ञापन फुले ने दिया उसमें शिक्षा व्यवस्था के व्यापक मुद्दों से लेकर कक्षा में हो रही प्रक्रियाओं तक पर उनकी चिन्ता दिखती है।

वर्तमान में प्राथमिक शालाओं में जो शिक्षक नियुक्त हुए हैं वे सभी प्रायः ब्राह्मण हैं – इनमें से कुछ ही प्रशिक्षण कॉलेजों के स्नातक हैं, ज़्यादातर अप्रशिक्षित हैं। उनका तनख्वाह बहुत ही कम है (दस रुपए से भी कम) और उनकी योग्यता भी कम हैं। वे ज़्यादातर आलसी व निष्क्रिय लोग होते हैं जो अपनी निष्क्रियता को अपने छात्रों तक पहुँचाते हैं।.... मैं समझता हूँ कि जहाँ तक सम्भव हो प्राथमिक शाला के शिक्षक प्रशिक्षित हों व खेतिहर समूहों से होना चाहिए। ऐसे व्यक्ति ही निम्न तबके के बच्चों के बीच घुलमिल सकते हैं, उनकी ज़रूरतों व भावनाओं को समझ सकते हैं वनिस्पद उन ब्राह्मण शिक्षकों के जो निम्न तबके से अलग थलग रहते हैं। ऐसे शिक्षक ज़रूरत पड़ने पर हल या छैनी पकड़ने से भी नहीं कतराएँगे। (हंटर कमीशन 1884)

फुले अँग्रेज़ों के उदारवादी सिद्धान्तों से तो प्रभावित थे ही और उन्होंने अँग्रेज़ी शासन का स्वागत भी किया। उनका मानना था कि वह शासन राजनैतिक रूप से निम्न तबकों के लिए लाभकारी है। उनके लिए सबसे अहम संघर्ष ब्राह्मणवादी सत्ता के खिलाफ दलित जातियों का था। वे मानते थे कि शिक्षा के माध्यम से प्राप्त शासकीय नौकरियाँ व वकालत आदि पेशे से ही दलितों का उद्धार सम्भव है। इसी कारण वे इन नौकरी–पेशों पर उच्च वर्णों के वर्चस्व से क्षुब्ध थे। वे इस बात से आशंकित थे कि अँग्रेज़ों के जाने के बाद यही उच्च वर्ण निम्न तबकों पर शासन जारी रखेंगे।

लेकिन दलित उन्नति के ये व्यापक विचार धीरे–धीरे संकुचित होते गए और नौकरियाँ पाने की रणनीति में सिमटते चले गए। इसका एक बड़ा कारण यह रहा कि उच्च वर्ण के लोगों पर आधारित राष्ट्रीय आन्दोलन में सामाजिक पुनर्गठन के लिए स्थान कम था और सामाजिक पुनर्गठन और राष्ट्रवाद दो अलग दिशा में बहते गए।

गैर–ब्राह्मण मध्यम जाति के लोग जो विभिन्न रूप में ज़मीन पर हक रखते थे, ने नौकरियों पर ब्राह्मणों के एकाधिकार का विरोध करने लगे। वे विभिन्न प्रान्तों में अपने संगठन बनाकर माँग करने लगे कि ब्राह्मणों के अलावा अन्य जातियों के लिए नौकरियों में आरक्षण हो। साथ ही वे अँग्रेज़ी शासन के प्रति वफादारी भी दिखाना चाहते थे। अँग्रेज़ी शासन ने इन माँगों के प्रति सकारात्मक रवैया अपनाया क्योंकि वे ब्राह्मण नेतृत्व वाले राष्ट्रवाद का प्रतिरोध करने के लिए इन मध्यम जातियों का सहारा लेना चाहते थे। इस प्रक्रिया में मध्यम ज़मीनदार जातियों को अधिक फायदा हुआ और उनका प्रयास दलितों तक पहुँचना भी नहीं था। फिर भी मद्रास जैसे प्रान्तों में इसका दलित शिक्षा पर भी काफी सकारात्मक असर पड़ा। दलित बच्चों के लिए विशेष स्कूलों की संख्या तेजी से बढ़ी, दलित छात्रों की संख्या भी बढ़ा और उन पर शासकीय खर्च भी बढ़ा।

## अम्बेडकर और गाँधी

महाराष्ट्र में आत्म सम्मान और न्याय के लिए दलितों के संघर्ष ने विकसित आकार ले लिया। वहाँ इस आन्दोलन को अम्बेडकर जैसे उदारवादी का व राष्ट्रवादी नेतृत्व मिला। भीमराव अम्बेडकर खुद दलित जाति के थे और वे दलित मुक्ति के लिए आधुनिक शिक्षा के महत्व को बखूबी समझते थे। उनका मानना था कि अँग्रेज़ी और उच्च शिक्षा और धर्मान्तरण के मदद से दलित आत्मसम्मान और न्याय पा सकते थे। दूसरी ओर, गाँधी यह मानते थे कि दलित मुक्ति को सम्भव बनाने के लिए दलितों के आन्दोलन व शिक्षा के साथ–साथ उच्च वर्णों की सोच व व्यवहार में भी बदलाव ज़रूरी है। यह बदलाव बाहरी या कानूनी दबाव से नहीं बल्कि उनकी अन्तरात्मा में बदलाव से ही होगा। सवर्णों को स्वेच्छा से सदियों से चले आ रहे अन्याय को खत्म करके दलितों का आत्मसात करना चाहिए।

## आरक्षण या सकारात्मक पक्षपात की नीति

1947 से पहले की शताब्दी में जो भारतीय बुद्धिजीवियों का चिन्तन था वह काफी हद तक इंग्लैण्ड के पूँजीवादी उदारवाद  से प्रेरित था जो खासकर जेर्मी बेन्थम और जान स्टूअर्ट मिल के सिद्धान्तों से प्रभावित था। इन सिद्धान्तों में लोकतंत्र व शासन की भूमिका संरक्षात्मक था और समाज में संसाधन व उत्पादन का वितरण बाज़ार पर छोड़ दिया गया। यह माना गया कि राजनैतिक स्वतंत्रता के होते बाज़ार हर व्यक्ति को उसके परिश्रम और क्षमता के आधार पर आगे बढ़ने के मौके देगा। समाज में ऊँचा दर्जा प्राप्त करने की वैयक्ति सम्भावना इस विचार का आधार था। लेकिन भारत जैसे देशों में जहाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रता बहुत सीमित थी, जहाँ विशाल जन समूहों को सम्पत्ति का अधिकार ही नहीं था, जहाँ जातिगत विभेद सर्वोपरि था, वहाँ यह सिद्धान्त अपनी सीमा पर पहुँच जाता है। इस सिद्धान्त और उसकी सीमाओं को हम आरक्षण की नीति में देख सकते हैं।

निम्न जाति के लोगों के लिए शासकीय पदों में आरक्षण मद्रास प्रान्त और मैसूर राज्य में 1920 के दशक में ही लागू कर दिया गया था। लेकिन एक व्यापक व स्वीकृत नीति जिसमें अनुसूचित जाति व जनजातियों के लिए आरक्षण का प्रावधान था, अम्बेडकर के आन्दोलन के परिणामस्वरूप 1943 से लागू हुआ। इस नीति की विवेचना

समाजशास्त्रीय, कानूनी व राजनैतिक दृष्टि से कई विद्वानों ने किया है। लेकिन इसकी शैक्षिक दृष्टि से इसकी विवेचना करना रह गया है।

निम्न तबकों के लिए आरक्षण की नीति भारतीय सन्दर्भ में समान अवसर सिद्धान्त पर आधारित है। आम तौर पर यह माना जाता है कि समाज में समानता लाने के सन्दर्भ में शासन की भूमिका को समान अवसर सुनिश्चित करने तक ही देखा गया है। लेकिन समान अवसर वाले सिद्धान्त की जड़ में एक स्पर्धात्मक समाज की कल्पना है जहाँ विभिन्न व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं व वंचित चीज़ों की सर्वाधिक प्राप्ति के लिए बाज़ार में सतत स्पर्धा करते हैं। ऐसे में शासकीय हस्तक्षेप यह सुनिश्चत करने की कोशिश करता है कि निम्न तबकों के कुछ व्यक्तियों को उस स्पर्धा में भाग लेने की अर्हता मिले। लेकिन इससे बाकी व्यवस्था उतना ही असमान बनी रहती है और बाज़ार की ताकत और सुदृढ़ होती है। इससे निम्न तबकों के केवल कुछ व्यक्तियों को आगे बढ़ने का मौका मिलता है और बाकी लोगों को कमज़ोर बनाए रखने की व्यवस्था पूर्ववत चलती रहती है। कुछ लोगों को यह आशा दिलाकर कि वे भी तरक्की कर सकते हैं, वह उस असमान व्यवस्था में उनकी आस्था को बनाए रखने में मदद करता है।

इन चिन्तकों के विचार में बाज़ार एक समतामूलक यंत्र है। लेकिन भारत जैसे जाति आधारित समाज में बाज़ार समतामूलक नहीं रह सका और विकृत रहा। आरक्षण पर ध्यान केन्द्रित करने से हम आम तौर पर नौकरी या उच्च तकनीकी शिक्षा में भर्ती जैसी शिक्षा के बाहर के मुद्दों को अधिक तवज्जों देने लगते हैं। लेकिन कक्षा के अन्दर दलित बच्चों के साथ होने वाला व्यवहार या पाठ्यक्रम व पुस्तकों में दलित एवं आदिवासी समाज की चिन्ताओं व प्रतीकों के अभाव पर भी उतना ही गौर करने की ज़रूरत है।

।।।।।।।।।

# इकाई– 5
# वैकल्पिक सोच व प्रयोग

इस इकाई में हम टैगोर व गाँधीजी जैसे राष्ट्रवादी चिन्तकों के द्वारा अँग्रेज़ी शिक्षा की अलोचना के बारे में चर्चा करेंगे।

## पठन सामग्री क्र.– 22

# कवि का स्कूल

रवीन्द्रनाथ टैगोर

मुझसे जो सवालात अकसर पूछे जाते हैं, उनसे ऐसा लगता है कि जनसमुदाय मुझ से, एक कवि से स्कूल खोलने का दुस्साहस करने की वजह पूछता है। मैं इसे स्वीकार करता हूँ कि रेशम का कीड़ा जो रेशम बुनता है और तितली जो यों ही उड़ती फिरती है, ये दोनों एक दूसरे के विपरीत अस्तित्व के दो प्रकारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। लगता है, प्रकृति के लेखाविभाग में रेशम का कीड़ा जितना उत्पादन करता है, उसके हिसाब से उसके काम का नकदी मूल्य नोट होता रहता है। लेकिन तितली गैर–ज़िम्मेदार प्राणी है। इसका जो भी महत्व है, वह इसके नाते दो हलके पंखों के साथ उड़ता रहता है, उसमें न कोई भार है, न ही कोई मूल्य। सम्भवतः यह सूर्य की रोशनी में छिपे रंगों के कुबेर को खुश करती रहती है, जिनका लेखा विभाग से कोई लेना देना नहीं और जो लुटाने की महान कला मे पूरी तरह माहिर है।

कवि की तुलना उसी बुद्धू तितली से की जा सकती है। वह भी सृष्टि के सभी उत्सवी रंगों को अपने छन्दों की धड़कन में उतार देना चाहता है। तब वह कर्तव्यों की अनन्त शृंखला में अपने आपको क्यों बाँधे? क्यों उससे कुछ अच्छे, ठोस और दर्शनीय परिणाम की आशा की जाए? अपने बारे में निर्णय करने का अधिकार वह उन बुद्धिमान लोगों को क्यों दे जो उसकी रचना का गुण होने वाले फायदे की मात्रा से समझने की कोशिश करें?

इस कवि का यानी मेरा उत्तर होगा कि जाड़े की खिली धूप में कुछ विस्तृत शाखाओं वाले मजबूत, सीधे और लम्बे साल वृक्षों की छाया में जब एक दिन मैं कुछ बच्चों को लेकर आया तो मैंने शब्द के अतिरिक्त एक और माध्यम से कविता लिखनी शुरू की।

मनोविश्लेषण के इस आत्मचेतस युग में बुद्धिमान जनों ने खोज निकाला है कि कविता का गुप्त स्रोत दमित स्वतंत्रता के किसी प्रच्छन्न संस्तर में, कुचली हुई आत्माभिव्यक्ति की किसी निरन्तर जकड़न में निहित होता है। मेरे मामले में उनका कहना एकदम सही है। मेरे भूतकालिक बचपन का प्रेत अपनी शुरुआती बरबादियों का पीछा करता हुआ लौट आया है। यह दूसरे बच्चों के जीवन में जीना चाहता है। ताकि अपने खोए हुए स्वर्ग में फिर से रह सके। इस स्वर्ग का निर्माण सिर्फ बच्चे कर सकते हैं। इसे बनाने में रूढ़िबद्ध माल, तयशुदा नाप और मानक मूल्य के घटकों की ज़रूरत नहीं है।

मेरे दिमाग में तत्काल प्राचीन भारत के एक कवि, कालिदास, का नाम उभर रहा है। उनकी जीवनी लिखी नहीं गई लेकिन हम आसानी से उसका कयास लगा सकते हैं। विद्वानों का सौभाग्य कहिए कि उन्होंने अपने जन्मस्थान के बारे में कोई संकेत नहीं दिया है और इस तरह काल का एक ऐसा रिक्त बिन्दु उन्हें मिल गया है जिस पर अनन्त काल तक वे एक–दूसरे से असहमत रह सकते हैं। मेरी बुद्धि की गति इतनी गहन नहीं है, लेकिन कहीं पढ़ा हुआ मुझे याद है कि वे खूबसूरत कश्मीर में पैदा हुए थे। तब से मैंने उनके जन्मस्थान के बारे में होने वाली बहसों को पढ़ना छोड़ दिया, इस डर से कि हो सकता है कि इसके विरोध में किसी विद्वतापूर्ण तर्क से मैं सहमत हो जाऊँ। बहरहाल, यह ठीक लगता है कि कालिदास कश्मीर में पैदा हुए और मुझे उनसे ईर्ष्या है क्योंकि मैं कलकत्ता में पैदा हुआ।

मनोविश्लेषकों को निराश होने की ज़रूरत नहीं है। जल्द ही वहाँ से उखड़कर वे किसी मैदानी नगर में आ

गए ओर "मेघदूत की उनकी पूरी कविता में दुख की अनुगूंज है," सुखमय दिनों की याद की पीड़ा समाई हुई है। क्या यह महत्वपूर्ण नहीं है कि इस कविता में अमर सौन्दर्य के स्वर्ग में रहने वाली अपनी प्रिया की खोज में यक्ष की भ्रमणशील कल्पना जानबूझकर खुशी के मारे रास्ते में पड़ने वाले प्रत्येक पर्वत, नदी और वन के पास रुक जाती है; वही कल्पना जून माह में जल से भरे बादल का काले कृष्ण नेत्रों से स्वागत करने वाली ग्राम बाला को निहारने लगती है; वट वृक्ष के नीचे गाने वाले ग्रामीण वृद्ध के पास रुककर विख्यात प्रेम गीत सुनने लगती है जो सरल चित्त लोगों की पीढ़ी दर पीढ़ी उनके आँसुओं और मुस्कान के बीच जीवित रहा? इसमें क्या हम पत्थरदिल नगर में बन्दी एक कवि को आनन्द में विभोर नहीं देखते जब वह अपनी कल्पना में पृथ्वी पर निर्वासित विरही प्रेमी को उस एक–एक पड़ाव पर रुकते हुए, पर्वत–पर्वत की यात्रा कराता है, जो उनके मिलन के स्वर्ग की ओर इंगित करता हो।

कवि किसी भौतिक गृहविछोह से संतप्त नहीं है, यह कोई और बुनियादी पीड़ा है, यह है – आत्मा का गृहविछोह। कवि जानता है कि यह केवल उसका अकेले का निर्वासन नहीं, बल्कि उसके पूरे युग का आत्म निर्वासन है। उसका युग समृद्धि बटोर चुका है, लेकिन उसने खुशी खो दी है, सामानों का कबाड़खाना भर चुका है, लेकिन महान ब्रह्मांड में उसकी पृष्ठभूमि लुप्त हो गई है। कवि की पूर्णता की आकांक्षा उसकी कविताओं और नाटकों में निरन्तर किस रूप में प्रकट होती है? यह प्राचीन भारत के पितृसत्तात्मक समाज के वनप्रान्त स्थित निवास, तपोवन, के रूप में प्रकट हुई है। संस्कृत साहित्य से परिचित लोग अच्छी तरह जानते हैं कि तपोवन आदिम संस्कार और मानसयुक्त लोगों के रहने की जगह नहीं था। वहाँ सत्य की खोज करने वाले रहते थे। वे इसके लिए शुद्धता के वातावरण में वे रहते थे, लेकिन शुद्धतावादी नहीं थे। वे सादा जीवन बिताते थे, लेकिन आत्मदमन के शौकीन नहीं थे। वे ब्रह्मचर्य के उपदेशक नहीं थे और जिन्हें सांसारिक जीवन बिताना पड़ता था, उनसे निरन्तर सम्पर्क बनाए रहते थे। उपनिषद की निम्नलिखित पंक्तियों में, संक्षेप में, उनके उद्देश्य और प्रयास वर्णित हैं :

ते सर्वागमा सर्वतः प्राप्यधीरा।
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशंति ।

(धीर बुद्धि जन सर्वव्यापी आत्मा के साथ अपनी एकात्मता का अनुभव करके और हमेशा उसके साथ रहते हुए उसी सर्वात्म में एकाकार हो जाते हैं।)

यह नकारात्मक प्रकृति के त्याग का दर्शन नहीं है, बल्कि एक सर्वावेशी अनुभूति है। बहरहाल, समृद्ध उज्जयिनी नगर और विक्रमादित्य के गौरवशाली काल में बाधा–बन्धन वाले विषयों और सर्वभक्षी अहं से संतप्त कालिदास की आत्मा जीवन, प्रकाश और स्वतंत्रता की प्रेरणा के लिए निरन्तर तपोवन के स्वप्न के इर्दगिर्द भटकती रहती है।

इसे कोई प्रतिलिपि तो नहीं कहा जा सकता, हाँ, प्राकृतिक संयोग अवश्य है कि आधुनिक भारत में भी एक कवि ने अपने भीतर आध्यात्मिक निर्वासन की पीड़ा का अनुभव कर ऐसा ही एक स्वप्न देखा। स्पष्टतः कालिदास के समय लोग वनप्रान्त के निवास, तपोवन के आदर्श में विश्वास करते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस काल में भी प्रकृति के ह्रदय में निवास करने वाले जनसमुदाय थे। वे आत्महनन के प्रेमी संसार विमुख लोग नहीं थे, अपने होने को अर्थवान करना चाहते थे। इसलिए कालिदास ने जब तपोवन के गीत गाए तो उनके गीत श्रोताओं के जीवन्त विश्वास से तुरन्त एकाकार हो गए। लेकिन आज तपोवन की धारणा वास्तविकता की दुनिया छोड़कर पुराकथाओं, किंवदंतियों के छायालोक में चली गई है। इसलिए आधुनिक कविता में यह धारणा केवल काव्यमय होगी, इसका अर्थ साहित्यिक प्रतिमानों या आस्वादों के मुताबिक ही समझा जाएगा। फिर, वर्तमान काल में अपने शुद्ध मौलिक रूप में तपोवन की भावना अद्भुत, किन्तु पुरावशेष ही होगी। इसलिए, यथार्थ रूप प्रदान करने के लिए जीवन की आधुनिक परिस्थितियों के मुताबिक इसका पुनर्संस्कार करना होगा; इसे सत्यतः तत्सम होना होगा, तथ्यतः तद्रूप नहीं इसी कारण एक आधुनिक कवि को सगुण भाषा में कविता लिखने की हार्दिक इच्छा हुई।

सबसे पहले कुछ विस्तार से मुझे इतिहास प्रस्तुत करने दीजिए।

सभ्य मनुष्य सामान्य जीवन के घेरे से काफी बाहर आ चुका है। धीरे–धीरे कुछ आदतें उसने बना ली हैं और वे आदतें बद्धमूल हो चली हैं। यह उसी तरह है जैसे मधुमक्खियाँ मधु के छत्ते के हिसाब से खुद क्रान्तियों घेराबन्दी अपने को ढाल लेती हैं। आधुनिक मनुष्य को अक्सर हम ऊबा, दुनिया से थका और अकारण अपने वातावरण से विद्रोह करते देखते हैं। सामाजिक क्रान्तियों में लगातार एक आत्मघाती हिंसा मौजूद रहती है, जिसके स्रोत घेराबन्दी के इन्तज़ाम से हमारे में असन्तोष है। यह घेराबन्दी हमें परिप्रेक्ष्य से हीन कर देती है, जो जीवन की कला में उचित अनुपात बैठाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह सब इस बात की ओर संकेत करता है कि मनुष्य को मधुमक्खी की तरह वास्तव में ढाला नहीं जा सकता और जब सामाजिक मनुष्य से कुछ अधिक होने की उसकी स्वतंत्रता सीमित कर दी जाती है तो वह गैरज़िम्मेदार औेर असामाजिक हो उठता है।

जटिल आधुनिक परिस्थितियों में यांत्रिक शक्तियाँ इतनी कुशलता से संगठित की गई हैं कि उनके द्वारा उत्पादित वस्तुएँ मनुष्य के स्वभाव और उसकी ज़रूरत के मुताबिक आसानी से एकत्रित होने और उन्हें चुने जाने की मनुष्य की क्षमता से बाहर निकल गई हैं। वस्तुओं की यह अनर्गल अतिवृद्धि उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों के अति प्रवर्धिष्णु पौधों की तरह ही मनुष्य की घेराबन्दी कर लेती है। घोंसला सहज है, आकाश के साथ इसके सम्बन्ध आसान हैं। पिंजरा जटिल है, कीमती है, अपने आप में एक दुनिया है, और बाहरी दुनिया से पूरी तरह काट देता है। आधुनिक मनुष्य पिंजरे बनाने में व्यस्त हैं, वस्तु नामक राक्षस पर अपनी निर्भरता बढ़ाता जा रहा है, चारों तरफ से इसके द्वारा अपने आपको ग्रस लिए जाने की छूट देता जा रहा है। मनुष्य वस्तु की जड़ ज़रूरतों के मुताबिक अपने आपको ढाल रहा है, उसकी सीमाओं के हिसाब से अपनी सीमाएँ बाँध रहा है और वस्तु का एक अंग माल बनता जा रहा है।

मुझे बताया गया है कि मेरे कुछ श्रोताओं का विश्वास है कि वस्तुओं के लिए कृत्रिम ढंग से निर्मित भूख से ही जीवन स्तर के उन्नयन का निन्रतर दबाव बना रहता है। यह दबाव ही वह ऊर्जा उत्पन्न करता है और उसे सन्तुष्ट करता है जिससे सभ्यता अपनी अन्तहीन यात्रा पर चली जा रही है। ऐसे श्रोताओं को मेरी बातें कुछ ज़्यादा ही पौर्वात्य लगेंगी। व्यक्तिगत रूप से मैं ऐसा नहीं मानता कि इतिहास में अब तक ज्ञात किसी भी महान सभ्यता की मुख्य चालक शक्ति के रूप में इसकी ख्याति रही है। मैने इस विषय को इसलिए नहीं छेड़ा कि मैं इसी पर बात करना चाहता हूँ। मैंने तो केवल एक कवि के व्यवहार की व्याख्या करनी चाही, जिसने विशेषज्ञों और शैक्षिक उपलब्धि प्राप्त जनों के सुरक्षित क्षेत्र में घुसने की ज़ुर्रत की।

मैं ब्रिटिश भारत के एक महानगर में पैदा हुआ। ईस्ट इंडिया कम्पनी के भाग्य–दुर्भाग्य की उठापटक के साथ पहली बाढ़ में ही मेरे पूर्वज बहते हुए यहाँ आ पहुँचे थे। उसके बाद से मेरे हिन्दू पारिवारिक जीवन की आचार पद्धति तीन संस्कृतियों, हिन्दू संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति और ब्रिटिश संस्कृति का मिश्रण बन गई। मेरे दादा के समय में प्रचुर परिधान, अतिशय शिष्टाचार और अवकाश की अधिकता में विक्टोरियाई तौर–तरीकों के मुताबिक कटाई–छँटाई चल रही थी। नई जीवनपद्धति में समय की बचत, उत्सवों में कम दिखावे और व्यक्तित्व के प्रदर्शन में गरिमा को अधिक महत्व दिया जाता था। इससे स्पष्ट है कि जिस दुनिया में मैंने जन्म लिया वहाँ प्राचीन ग्राम समुदाय की हमारी मधुर हरियाली पर आधुनिक शहरी सभ्यता और प्रगति की कार विजयी रफ्तार से चलना अभी शुरू ही हुई थी।

हालाँकि मेरे आसपास के वातावरण में कुचलाव की प्रक्रिया पूरी हो चुकी थी लेकिन उन ध्वंसावशेषों के भीतर अतीत की विलाप ध्वनि सुनाई पड़ती थी। अपने सबसे बड़े भाई को अकसर मैंने एक निराश पछतावे के दर्द के साथ उस समाज का वर्णन करते सुना जो पुरानी दुनिया में पाई जाने वाली सहज दयालुता की तासीर से लबालब था, मीठा था, अतिथिवत्सल था, सहज विश्वास और जीवन के उत्सवी काव्य से आप्लावित था, लेकिन मेरे लिए यह सब कुछ क्षितिज की जलती–बुझती रोशनियों की स्वर्णिम आभा की तरह व्यतीत मात्र था। मेरे बचपन के चतुर्दिक फैला हुआ तथ्य तो पश्चिमी व्यापारियों की एक कम्पनी द्वारा नवनिर्मित एक आधुनिक शहर था। हमारे जीवन को आधुनिकता की आदत नहीं पड़ी थी लेकिन आधुनिकता उसमें घुसी चली आ रही थी, इससे उत्पन्न

विसंगतियों की ठोकर खाते ही मेरा बचपन बीता। यह सोचकर आश्चर्य होता है कि हालाँकि दुनिया का मेरा एकमात्र अनुभव शहर की चतुर्दिक कठोरता थी लेकिन मेरे दिमाग में लगातार निर्वासन का गृह विछोह घूमता रहता था।

लगता है कि किसी मध्ययुगीन निवासस्थान (जहाँ हमारे पूर्वजों के दिमाग में अनपढ़ चट्टानों, बहते पानी और सांय–सांय करते घने जंगलों के रहस्यों की छाया पड़ी थी और उनकी आत्मा ने इन रहस्यों से बाते की थीं) की अवचेतन स्मृति मेरे लहू को लगातार अपनी पुकार से गरमाती रही। मेरे भीतर बैठी हुई कोई प्रेतबाधाग्रस्त जीवित स्मृति प्रसवपूर्व के हिंडोले और खेल के मैदान के लिए कराहती–सी लगती थी, जो इसे कभी आदिम जीवन के साथ पृथ्वी, जल और वायु के सीमाहीन जादू में प्राप्त हुआ था। तप्त भारतीय मध्याह्न में सूरज की चिलचिलाती किरणों से व्यथित ऊँची उड़ती पतंग की क्षीण, दुर्बल आह एक अकेले बच्चे के लिए किसी निःशब्द दूरागत रिश्ते का इंगित है। इस पृथ्वी पर पहले आने वालों की पुरानी सेना के बचे–खुचे युद्धबन्दियों की तरह मेरे घर की चारदीवारी के पास कुछ नारियल के वृक्ष खड़े थे। वे मुझे पेड़ों और मनुष्य के महान भाईचारे के शाश्वता सम्बन्ध के बारे में बताते रहते थे। उन्होनें जंगल की पुकार के प्रति मेरे हृदय को उत्कंठित कर दिया। कुछ वर्षों बाद इस पुकार का उत्तर देने का सौभाग्य मुझे व्यक्तिगत रूप से प्राप्त हुआ जब दस वर्ष की आयु में विराट देवदारों की छाया में खड़ा मैं अकेले हिमालय को निहार रहा था। जीवन की उस प्रथम प्रसूत समृद्धि की गहन गरिमा, उस भयानक किन्तु शिष्ट धैर्य को देखकर मैं विस्मय से भर उठा।

अब मैं बचपन के उन दिनों को मुड़कर देखता हूँ जब मेरा मस्तिष्क आकाश और प्रकाश हो जाने की विराट भावना के साथ उड़ता–सा लगता था। जब चमकती घास के साथ भूरी मिट्टी से घुलमिल जाना चाहता था तो यह विश्वास करने से अपने आपको रोक नहीं पाता कि मेरी भारतीय वंश परंपरा ने भीतर कहीं गहरे मेरे अस्तित्व में भारतीय दर्शन की छाप छोड़ दी थी। यह दर्शन सभी वस्तुओं की संगति में ही पूर्णता प्राप्त करने की वकालत करता है। गलत हो या सही, यह संगति हमारे भीतर मानव निर्मित जगत की बजाय ब्रह्मांड की गहराइयों में स्वतंत्रता प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत करती है। इसी कारण हमारे भीतर अग्नि, जल और वृक्ष, जो कुछ भी गतिमान और वृद्धिमान है, उसमें निहित देवत्व के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करने का भाव पैदा होता है। मेरे स्कूल की स्थापना का स्रोत मेरे जन्म के भी पार जाने वाली स्मृति, स्वतंत्रता की इसी इच्छा की स्मृति में निहित है।

मात्र आत्मनिर्भरता के अर्थ मे स्वतंत्रता का कोई सार नहीं है, कोई अर्थ नहीं है। पूर्ण स्वतंत्रता संसार के भीतर सम्बन्धों की पूर्ण संगति में है। यह संगति संसार के हमारे ज्ञान में नहीं बल्कि उसकी सत्ता के साथ एकाकार होने में है। ज्ञेय विषय ज्ञाता से अनन्त दूरी बनाए रखते हैं क्योंकि ज्ञान तादात्मय नहीं है। स्वतंत्रता का लोक तो उसके आगे स्थित है, जहाँ सत्य तक हम अपने इन्द्रियानुभव के ज़रिए नहीं, तर्कसिद्ध ज्ञान के ज़रिए नहीं, बल्कि सहजानुभूति के जरिए पहुँचते हैं।

बच्चे अपने इन्द्रित संवेदनों की ताज़गी के नाते इस विश्व से प्रत्यक्ष निकटता प्राप्त करते हैं। उनको यह महान वर प्राप्त है। उन्हें विश्व को नग्न और सहजतः स्वीकार करना चाहिए और कभी इसके साथ तत्क्षण संवाद की शक्ति नहीं खोनी चाहिए। अपनी पूर्णता के लिए हमे जैविकीय रूप से आदिम और मानसिक रूप से सभ्य होना होगा। हमें यह वर मिलना चाहिए कि हम प्रकृति के साथ प्राकृतिक और मानव समाज के साथ मानवीय बन सकें। मैनें जो दुख अनुभव किए उनका कारण शहर का भीड़ भरा एकान्त था, जहाँ आदमी हर कहीं बहुत थे लेकिन विराट मानवेतर के लिए कोई जगह नहीं थी। शहरी जीवन के सभ्य अलगाव में बैठी मेरी निर्वासित आत्मा अपने दामन का फैलाव बढ़ा देने के लिए चिल्लाती रहती थी। मैं किसी छन्द की अलगाई हुई एक पक्ति की तरह हमेशा निलम्बित पड़ा रहा, जबकि दूसरी पक्ति, जिसके साथ इसका तुक बैठता और इसे पूर्णता मिलती, किसी अदृश्य दूरी पर कुहरिल धुँधलके में खो गई थी। प्रसन्न रहने की सहज शक्ति लेकर अन्य बच्चों की तरह मैं भी इस दुनिया में आया था, लेकिन इस जीवन की ईंट–पत्थर वाली व्यवस्था से मेरी रगड़ ने, यांत्रिक आदतों और दस्तूरी शिष्टाचार के रिवाज से मेरे झगड़ों ने उसे खा लिया।

जैसा कि चलन था, मुझे भी स्कूल भेजा गया, लेकिन मेरी पीड़ा आसामान्य थी, अन्य बच्चों से ज़्यादा बड़ी

थी। मेरे भीतर का असभ्य जीव अधिक संवेदनशील थाः इसके भीतर रंग, संगीत और जीवन की हलचल की अधिक प्यास थी। हमारी शहर निर्मित शिक्षा ने इस जीवन्त तथ्य को ध्यान में नहीं रखा। इसकी छकड़ागाड़ी तो अपने बेचने योग्य परीक्षा परिणामों की ठप्पे लगी गठरियाँ ले जाने के लिए खड़ी थी। आदमी में असभ्यता और सभ्यता का वही अनुपात होना चाहिए जो इस पृथ्वी में जल और धरती का है, असभ्यता का हिस्सा अधिक होना चाहिए। लेकिन स्कूलों ने तो अपना उद्देश्य असभ्यता का निरन्तर सुधार तय कर रखा है। तरल तत्व के बहकर निकल जाने से बंजरता पैदा होती है। हो सकता है शहरी परिस्थितयों में इसे खेदजनक न माना जाए। लेकिन मेरा स्वभाव इन परिस्थितियों, फुटपाथ की उदासीनता भरी गुरुता का कभी आदी न हो सका। कुछ जल्दी ही मेरे भीतर असभ्यता जीत गई और तेरह वर्ष की उम्र पार करते–करते मैं स्कूल से बाहर हो गया। अपने आपको मैंने अज्ञान के द्वीप पर अकेला और बेसहारा खड़ा पाया। एकदम शुरू से ही अपनी शिक्षा के लिए मुझे मात्र अपने संवेगों पर निर्भर रहना पड़ा।

इस प्रकरण से मुझे याद आ रहा है कि जब मैं छोटा था, तभी सौभाग्यवश मेरे हाथ राबिन्सन क्रूसो का बांग्ला अनुवाद लग गया। अब भी मेरा विश्वास है कि यह बच्चों के लिए लिखी गई सर्वोत्तम किताबों में से एक है। इस परचे में मैंने पहले ही कहा है कि छुटपन में मेरी इच्छा अपने आप से पलायित होने और प्रकृति की अन्य चीजों से एक हो जाने की रहती थी। मैंने इस इच्छा को ठेठ भारतीय चेतना के विस्तार की पारम्परिक इच्छा का परिणाम बताया है। इसे माना जाना चाहिए कि यह इच्छा अपने चरित्र से निहायत निजी है, लेकिन हमारी भौगोलिक परिस्थितियों में यह अपरिहार्य है। हम उष्णकटिबंधीय क्षेत्र की निर्मम जलवायु में रहते हैं। प्रतिक्षण मात्र जीवित रहने के अधिकार की भारी कीमत चुकाते हैं। गर्मी, उमस, बड़े जीवों के खाने के लिए छोटे जीवों की अकथनीय उत्पादकता, दृश्य और अदृश्य चिड़चिड़ाहट के स्रोत – सब मिलकर जीवन का बहुत छोटा हिस्सा ही खर्चीले प्रयोगों के लिए छोड़ते हैं।

ऊर्जा की अधिकता आत्मप्रकटीकरण के लिए बाधाएँ खोजती है। इसलिए अक्सर हम पश्चिमी साहित्य में प्रकृति के अमंगलकारी पक्षों पर ही ज़ोर पाते हैं। पश्चिम में मनुष्य ने अपनी खुशी के लिए प्रकृति में एक दुश्मन खोज लिया है, जिसे लड़ने के लिए ललकारने में उसे सुख मिलता है। जिस कारण सिकन्दर ने इस दुनिया की विजय यात्रा पूरी कर जीतने के लिए दुनिया को खोज निकालना चाहा था, उसी कारण ये परम उत्साही जन जब हानिकारक वस्तुओं के खिलाफ युद्ध के अपने उदात्त उद्देश्य से थोड़ी राहत पाते हैं तो दूसरों के फटे में अपनी टाँग अड़ाने और दूसरों को पराजित करने के बाद उनसे हरजाना माँगने को बेचैन रहते हैं। अपने आपको घायल कर लेने का खतरनाक मज़ा लूटने के लिए ये लोग अनाक्रामक जन्तुओं और लोगों से लड़ने की अनगिनत मुसीबतें उठाते हैं, उन सुन्दर पक्षियों को घायल करते हैं जो उड़कर भाग जाना चाहते हैं दुर्गम इलाकों में सुरक्षित रहने वाले शर्मीले जानवरों को ढूँढ निकालते हैं, और – खैर छोड़िए, इस मामले में उच्चतर नस्लों का नाम लेने की शिष्टाचारहीनता से मैं बचना चाहता हूँ।

जीवन की पूर्णता के रास्ते में लगातार अन्तर्विरोध मिलते रहते हैं, लेकिन आगे बढ़ने के लिए इनका होना ज़रूरी है। नदी की धारा का प्रवाह सुस्त न पड़े, इसके लिए मिट्टी का निरन्तर प्रतिरोध आवश्यक है, जिसके बीच से होकर उसे गुज़रना है और जो कट जाने के बाद उसका किनारा बन जाती है। संघर्ष की भावना का सम्बन्ध जीवन की प्रकृति से है। साज को साधा जाना चाहिए, इसलिए नहीं कि कठिनाई के समक्ष ही उसमें कुशल अध्यवसाय प्रकट होता है, बल्कि इसलिए कि संगीत के सम्पूर्ण साक्षात में इससे मदद मिलती है। यह मान लेना ही ठीक होगा कि पश्चिम में जीवन के साज का हरेक तार साधा जा रहा है क्योंकि पश्चिम में रूकावटों से मुकाबला करके–लड़ने का विजयी आनन्द पाया जाता है। इस ब्रह्माण्ड की आत्मा में स्थित सृष्टि की भावना अपने लिए ही रूकावटों को कभी पूरी तरह नहीं मिटाएगी। संघर्ष की भावना अपने लिए ही रूकावटों को कभी पूरी तरह नहीं मिटाएगी। संघर्ष की भावना महान है क्योंकि सत्य पूर्णता के उस आदर्श मे निहित है जिसे अपना बना लेने के लिए अपने ही प्रयासों से उसे जीतना पड़ता है, इसलिए महान नहीं है कि उसके ज़रिए शारीरिक बल या हिंसक लोलुपतायुक्त क्रूर पशुता का प्रदर्शन किया जाए।

राबिन्सन क्रूसों में प्रकृति के साथ एकात्मता का आनन्द साहस की ऐसी कथा में अभिव्यक्त हुआ है, जहाँ एक आदमी अकेले प्रकृति के सम्मुख है, उसे फुसला रहा है, उसके साथ सहयोग कर रहा है, उसके रहस्यों से परिचित हो रहा है, उसकी मदद पाने के लिए सभी उपायों का प्रयोग कर रहा है। इस किताब को पढ़ने में मुझे मज़ा आया, इसलिए नहीं कि कंजूस प्रकृति की बँधी हुई मुट्ठी को खोल लेने की मनुष्य की सफलता के गर्व का मैं अनुभव कर रहा था, बल्कि इसलिए मज़ा आया क्योंकि इसमें प्रकृति से कुशलतापूर्वक तय व्यवहार करके मनुष्य ने उसकी सक्रिय संगति प्राप्त की, जिसका स्वाभाविक परिणाम है सफलता। यही पश्चिम का प्रेम दुस्साहस है, पृथ्वी से सक्रिय प्रणय है।

एक बार युवावस्था में मैंने ब्रिंदिसी से सेलेस तक यूरोप के आर–पार रेल यात्रा की। मुझे याद है कि इस यात्रा के दौरान जब मैंने इस महाद्वीप में चतुर्दिक बिखरे विशाल सौन्दर्य को देखा तो असीम आनन्द और आश्चर्य की भावना से भर उठा। जिसे पश्चिमी मानवता कहते हैं उस उदात्त प्रेमी की सदियों से लगी निगाह तले यह सौन्दर्य स्वास्थ्य और समृद्धि की आभा से खिल उठा है। प्रेमी ने उसे पा लिया है, अपना बना लिया है और उसके हृदय की अक्षय उदारता को उन्मुक्त कर दिया है। मुझे इच्छा हुई कि जिसे पूर्वी भक्त अपने मन के एकान्त में पाता है उस विश्वात्मा की अन्तश्चेतना को सेवा की इस बहिर्गत भावना के साथ जोड़ा जा सकता है, इच्छा के उस प्रयोग के साथ जोड़ा जा सकता है जो लज्जा के आवरण में ढके सौन्दर्य की समृद्धि और खुशी को बाहर प्रकाश में खोलकर ला सके।

मुझे वह सुबह याद है जब बंगाल के एक गाँव की भिखारिन ने उन बासी फूलों को अपनी साड़ी के छोर में बाँध लिया जो मेरी मेज़ के फूलदान से उठाकर फेंके ही जाने वाले थे : और कोमलता की दिव्य छवि के साथ अपना मुँह इनमें गड़ाकर वह बोल उठी, भओह, मेरे हृदय के प्रेम। आसानी से उसकी आँखें रूप के बाहरी आवरण को भेद गईं और इन फूलों में वह अनन्त के उस लोक में पहुँच गई जहाँ उसके अपने प्रेमी का हार्दिक स्पर्श पाया। लेकिन इन सबके बावजूद उसमें पूजा की उस ऊर्जा, प्रत्यक्ष दैवी सेवा की उस पश्चिमी भावना का अभाव है जिससे पृथ्वी अपने फल–फूल बाहर उगल देती है और उजाड़ भूखण्ड में भी सौन्दर्य का साम्राज्य आ विराजता है। मुझे आशा है कि पूर्व और पश्चिम, मेरी और मार्था की जुड़वाँ भावनाएँ सत्य की सम्पूर्ण प्राप्ति के लिए एक दिन अवश्य मिलेंगी। हमारी भौतिक बेदरिद्रता और कालजनित बैरभाव के बावजूद मैं धीरज के साथ इस मिलन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

जब मैं ऐसे संस्थान के बारे में सोचता हूँ जहाँ केवल प्रेम नहीं बल्कि सक्रिय संवाद के ज़रिए मनुष्य और प्रकृति के बीच एकता का पहला पाठ बिना किसी बाधा के ग्रहण किया जाएगा, तो मेरे दिमाग में राबिन्सन क्रूसो का द्वीप ही आता है। हमें इस तथ्य को दिमाग में रखना चाहिए कि प्रेम और कर्म के माध्यम से ही पूर्ण ज्ञान पाया जा सकता है, क्योंकि ज्ञान का उद्देश्य विद्या का आडम्बर नहीं बल्कि विवेक की प्राप्ति है। इस तरह के किसी संस्थान का प्राथमिक उद्देश्य किसी आफत के समय शरीर के अंगों और मस्तिष्क की कुशल तैयारी की शिक्षा मात्र नहीं होना चाहिए, बल्कि इसका उद्देश्य जीवन और विश्व की पूर्ण संगति का सन्तुलन, इनके बीच की संगत में सही लय प्राप्त करना होना चाहिए। इसी को विवेक कहते है। इस तरह की जगह पर बच्चों के लिए पहला महत्वपूर्ण पाठ आत्मसुधार का होना चाहिए, उनकी आत्मा से बहिष्कृत तैयारशुदा मार्गों को बार–बार उनके सामने प्रस्तुत किया जाना चाहिए, ताकि उपलब्धि के अचम्भे के ज़रिए अपनी क्षमता को पा लेने के अवसर बार–बार उनके सामने उपस्थित हों। मैं साफ कर देना चाहता हूँ कि इसका अर्थ सामान्य जीवन का पाठ नहीं, बल्कि सृजनात्मक जीवन का पाठ है। क्योंकि जीवन चाहे जितना जटिल हो जाए, अगर उसके केन्द्र में एक जीवन्त व्यक्तित्व है तो उसमें सृजन की एकता अक्षुण्ण रहेगी, अपना भार यह खुद पूर्ण गरिमा के साथ वहन कर लेगा, और तथ्यों की विशाल भीड़ में एक और तथ्य मात्र होकर शामिल नहीं होगा।

काश! मैं कह सकता कि हमारे स्कूल ने मेरे स्वप्न को पूरी तरह मूर्तिमान कर दिया है। लेकिन हम इस पुस्तक की अभी केवल भूमिका ही लिख सके हैं और बच्चों को एक अवसर दिया है कि प्रकृति को प्रेम करने की क्षमता के ज़रिए वे अपनी स्वतंत्रता वे हासिल करें। क्योंकि प्रेम ही स्वतंत्रता हैः यह हमें अस्तित्व की वह परिपूर्णता देता

है जिससे हम अपनी आत्मा को अतीव सस्ती चीज़ों के लिए बेचने से बच जाते हैं। प्रेम इस विश्व को अर्थ का प्रकाश प्रदान करता है और जीवन को चतुर्दिक वही परिपूर्णता देखने की शक्ति देता है तो सचमुच इसका भोज्य है। मैं ऐसे लोगों को जानता हूँ जो दरिद्रता के आध्यात्मिक गुणों का बखान कर सादा जीवन की संस्कृति का उपदेश देते हैं। मैं दरिद्रता में किसी विशेष मूल्य की कल्पना करने से इनकार करता हूँ, अगर वह केवल नकारात्मक है। जब मस्तिष्क इतनी संवेदनशीलता प्राप्त कर ले कि सत्य की गहरी पुकार का उत्तर दे सके तब स्वभावतः वस्तुओं के मिथ्या मूल्य के आकर्षण से वह मुक्त हो जाता है। उदासीनता हमसे खुशी प्राप्त करने की सहज शक्ति छीन लेती है और फर्नीचर और कीमती वस्तुओं के मूर्खतापूर्ण बोझ में दम्भ की अशिष्टता पैदा कर देती है। लेकिन तापसी उदासीनता को भोग की उदासीनता के विरूद्ध खड़ा करना एक बुराई के खिलाफ लड़ाई में दूसरी बुराई की मदद लेने के समान है, जंगल की राक्षसी शक्ति के विरूद्ध मरूस्थल के निर्मम दानव को आंमत्रित करने जैसा है।

अपने स्कूल के बच्चों में मैंने साहित्य, सांस्कृतिक उत्सवों और उन धार्मिक शिक्षाओं के ज़रिए प्रकृति के उनके एहसास में ताज़गी, मानवीय पर्यावरण के साथ उनके सम्बन्धों में आत्मा की संवेदनशीलता विकसित करने की भरपूर कोशिश की है, जिनसे विश्व के साथ मनुष्य जाति के नज़दीकी आत्मिक सम्बन्ध बनते हैं। इस तरह वह प्राप्त होता है जिसे नापा नहीं जा सकता। यह ऐसे ही है जैसे एक वाद्य यंत्र हमें प्राप्त हो जाए, इस अर्थ में नहीं कि वह हमारे पास है, बल्कि इस अर्थ में कि हम उसे बजा सकते हैं। मैंनें बच्चों के लिए इस विश्व में सच्ची घरवापसी की तैयारी की है। खुली हवा में, वृक्षों की छाया में जो दूसरे विषय वे पढ़ते हैं, वे हैं – संगीत और चित्रकला; नाटकों का मंचन और ऐसी गतिविधियाँ जो जीवन की अभिव्यक्ति हैं।

मैंने पहले ही संकेत किया है कि यही काफी नहीं था और मैंने ऐसे लोगों और साधनों की प्रतीक्षा की जो मेरे स्कूल में काम का सक्रिय उत्साह, हमारे चरित्र निर्माण में मददगार, हमारी खोजी और रचनात्मक ऊर्जाओं के प्रसन्न प्रयोग की भावना भरने में सक्षम हों और अपनी गतिविधियों से स्वभावतः गर्दो–गुबार, क्षय और मृत्यु का ढेर उड़ाकर साफ कर दें। दूसरे शब्दों में, मुझे हमेशा पश्चिमी प्रज्ञा की ज़रूरत का एहसास रहा जो मेरे शैक्षिक आदर्श को यथार्थ की उस शक्ति से संवलित कर दे जो व्यावहारिक कल्याण के ठोस लक्ष्य की ओर जाने का रास्ता बनाना जानती है।

बाधाएँ मेरे सामने अनन्त थीं। जो समुदाय अपने को शिक्षित कहता है उसकी परम्पराएँ, अभिभावकों की आशाएँ, खुद अध्यापकों की शिक्षा, आधिकारिक विश्वविद्यालय का दावा और उसका संविधान, सब कुछ मेरी आकांक्षित योजना के विरूद्ध ही था। कोढ़ में खाज हमारी वित्तीय स्थिति थी। अपने देशवासियों से आर्थिक मदद मैं आकर्षित न कर सका, फलतः हमारे पास धन एक ऐसी संस्था को टिकाने के लिए एकदम अपर्याप्त था जहाँ विद्यार्थी अनिवार्यतः कम होने थे।

सौभाग्यवश, मदद एक अँग्रेज़ मित्र से मिली जिन्होंने विश्वभारती से जुड़े ग्रामीण कार्य को निर्मित और सृजित करने में अग्रणी भूमिका निभाई। मानवीय व्यक्तित्व को अपने स्वास्थ्य के लिए शारीरिक और मानसिक, सभी क्षेत्रों में सामान्य उत्प्रेरणा की आवश्यकता है। मेरी ही तरह मेरे मित्र भी ऐसी शिक्षा में विश्वास करते हैं जो मनुष्य की इस ज़रूरत के लिए उसे सम्पूर्णता में ग्रहण करे। अपने विचार को अमल में लाने की आज़ादी के लिए हमने कुछ बच्चों के साथ अपना काम शुरू किया, जो या तो अनाथ थे या जिनके माता–पिता इतने दरिद्र थे कि उन्हें अन्य किसी स्कूल में नहीं भेज सकते थे।

कुछ ही समय में हमने पाया कि कई तरह के रचनात्मक कार्यों में लगे इन दिमागों ने तेज़ी से वह ऊर्जा प्राप्त कर ली, जिसे ज्ञान की दुनिया में अब अपनी निष्कृति चाहिए। यहाँ तक कि उन्होनें हस्तलेख सुधारने जैसे यांत्रिक काम के लिए भी अतिरिक्त भार लेना शुरू कर दिया। इन बच्चों के दिमाग घटित हो रही घटनाओं के प्रति इतने जीवन्त हो उठे कि अँग्रेज़ी सीखना उनके कार्यक्रम में नहीं था, फिर भी एक बार एक साधारण से तथ्य से उन्होंने अँग्रेज़ी सीखने का काम समझ लिया। यह समझ उन्हें एक दिन चिट्ठी भेजते हुए आई। उन्होनें देखा कि लिफाफे पर बांग्ला में जो पता लिखा है, उसे पोस्टमास्टर अँग्रेज़ी में लिख रहा है। तुरन्त वे अपने अध्यापक के

पास गए। उनसे माँग की कि अतिरिक्त समय में उन्हें अँग्रेज़ी पढ़ाई जाए और भी आश्चर्यजनक यह है कि आज तक इन बहादुर बच्चों को अपने इस दुस्साहिक निर्णय पर कभी पछतावा नहीं हुआ। आज क्या मुझे अपने बचपन के वे हिंसक और आपराधिक खयालात नहीं याद आ रहे जो अपने अँग्रेज़ी अध्यापक को मेरे घर आने वाले रास्ते के मोड़ पर देखते ही मेरे मन में उठते थे?

इन बच्चों के लिए छुट्टी का कोई अर्थ नहीं था। हालाँकि उनका अध्ययन कठोर था लेकिन कोई अतिरिक्त कार्यभार नहीं था, बल्कि छुट्टी की तरह ही उनकी रसोई, सब्जी के बाग, बुनकरी और छोटे–मोटे मरम्मत के उनके कामों के साथ ही चलने वाली गतिविधि था। चूँकि उनकी पढ़ाई ने उनके सामान्य पेशे से हटाकर उन्हें कहीं और नहीं कैद कर दिया था, पर यह उनके दैनिक जीवन प्रवाह का अंग बन गई थी, इसीलिए उनकी शिक्षा अपना बोझ अपने बहाव के बल पर ही ढो लेती थी।

पहली बार जब वे आए तो अधिकांश बच्चे शरीर और दिमाग से बहुत कमज़ोर थेः पिछली कई पीढ़ियों से जारी मलेरिया और अन्य उष्णकटिबन्धीय बीमारियों द्वारा किए गए विनाश के कारण वे ऐसी धरती की तरह लगते थे जिस पर वर्षों से जंगली युद्ध चला आ रहा हो, उनके शरीर में रक्ताल्पता ने घर कर लिया था। वे अपने साथ दुःसह मानसिक विकृतियाँ लेकर आए थे, जो दूषित रक्त और क्षुधित शारीरिक स्थिति की उपज थी। ब्राह्मण मगरूर थे, गैर ब्राह्मण आत्मतिरस्कार के कारण दयनीय लगते थे। अगर अपने को छोड़कर किसी और को थोड़ा भी अधिक लाभ मिलने की सम्भावना हो तो वे साझा हित का कोई काम करने में घृणा का अनुभव करते। अगर उनसे उनके फायदे के लिए ही कोई हाथ का काम करने को कहा जाता तो वे चिड़चिड़ाते थे क्योंकि उपयुक्तता के अपने मानदण्ड के अनुसार वे समझते कि यह काम किसी साधारण कुली या आम रसोइए का है। वे खैरात पर जीने में शर्मिन्दा नहीं होते लेकिन अपनी मदद खुद करने में उन्हें लाज लगती। सम्भवतः वे इसे उचित नहीं समझते थे कि हमें शोहरत मिले और उन्हें इसकी थोड़ी सी भी कीमत चुकानी पड़े।

यह सोचा जा सकता था कि उनकी यह नीचता और स्वार्थ भरी ईर्ष्या, अधिकाधिक लाभ की इच्छा में अभिव्यक्त, उनका नैतिक आलस्य उनके स्वभाव का अंग बन गया है। लेकिन बहुत कम समय में यह सब कुछ बदल गया। इन बच्चों में त्याग और सहभागिता की भावना, दूसरों के निस्वार्थ मदद की इच्छा जिस कदर विकसित हुई, कई बार वह अच्छे माहौल में रहे बच्चों में भी बिरले ही पाई जाती है। स्वस्थ सक्रिय जीवन ने उनके भीतर जो कुछ अच्छा था उसे तेज़ी से सतह पर ला दिया और अशुद्धि का इकट्ठा पड़ा कूड़ा बुहार दिया। जो काम वे रोज़ करते थे, उसके चलते नैतिक समस्याएँ ठोस कठिनाइयों का रूप धरकर सामने आईं और उनसे ठोस समाधान की माँग की। तथ्य के तर्क ने जीवन के भीतर सिद्धान्तों की असलियत ज़ाहिर कर दी, और अब जब दूसरे बच्चे इसे नहीं समझ पाते तो उन्हें आश्चर्य होता है। उन्हें खाना पकाने, बुनकरी करने, बागवानी करने, अपने वातावरण को सुधारने और दूसरे बच्चों की मदद करने में आनन्द अनुभव होता है। यह मदद अक्सर वे चुपके से करते हैं अन्यथा पता चलने पर दूसरा शर्मिन्दा होगा। खाना खिलाने वाले दूसरे संगठनों में सदस्य जितना उन्हें दिया जाता है, उससे अधिक के लिए शोरगुल करते हैं, लेकिन ये बच्चे स्वयंमेव अपनी ज़रूरतों को कम रखते हैं, धीरजपूर्वक अपूर्णता की अनिवार्यताओं को बरदाश्त करते हैं। उन्हें यह सिखाया गया है कि अधिकांश ज़िम्मेदारियाँ उनकी खुद की हैं, और कोई भी अय्याशी बोझ बन जाएगी अगर उसका भार बहुत सारे दूसरे लोगों के कन्धों पर भी न हो। इसलिए अगर कोई अभाव पैदा हो तो हाथ पर हाथ धरे बड़बड़ाने से बेहतर है कोई रास्ता सोचना और कोई इन्तज़ाम खुद करना। भोजन की पोषकता बढ़ाने के लिए उन्हें सब्ज़ी उगाने में अधिक दिलचस्पी लेनी होगी। अपना छोटी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए उनके पास औज़ार और माँ की दी हुई सीख है। हालाँकि उनके प्रयासों के परिणाम अनिवार्यतः अनगढ़ निकलेंगे, लेकिन उनमें एक मूल्य होगा जिसकी कीमत बाज़ार में नहीं लगाई जा सकती ।

चाहता हूँ कि इस विवरण में किसी साहित्यिक क्रमभंग के ही उद्देश्य से मैं अपनी योजना में किसी व्यवधान की चर्चा करूँ। मेरी व्यवस्था को बरबाद कर देने वाले किसी अप्रत्याशित बेमेल तत्व को संकेत दूँ। लेकिन सत्य के हित में मुझे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अभी तक तो ऐसा कुछ भी घटित नहीं हुआ है। शायद हमारी

उष्णकटिबन्धीय जलवायु ही हमारे वातावरण की शान्त स्थिति के लिए ज़िम्मेदार है। शायद इसी कारण हमारे बच्चों में ऊर्जा की वह अधिकता नहीं पाई जाती जो सुरक्षित रखी जाने वाली चीज़ों में अव्यवस्था पैदा करके ही मज़ा पाती है। शिकार के प्रेमी पश्चिमी लोग भारतीय किसान द्वारा दिखाए गए मोर के साथ यही बरताव करते हैं। शायद अभी इतने दिन भी नहीं बीते हैं कि मैं यह आशा करूँ कि हमारा यह प्रयोग भोलेभाले बच्चों के किसी आदर्श स्वर्ग की फोटो प्रतिलिपि नहीं बन जाएगा। मुझे पूरी उम्मीद है कि जल्द ही जीवन की कोई अनपेक्षित समस्या उठ खड़ी होगी, हमारे सिद्धान्तों को चुनौती दे देगी और कठिन अन्तर्विरोध पैदा कर आदर्शों में हमारे विश्वास की परीक्षा ले लेगी।

इसी बीच यह महसूस कर कि जीवन की ज़रूरतों के हिसाब से शरीर और मस्तिष्क को ढाले जाने की दैनिक प्रक्रिया ने बच्चों में बौद्धिक अवधानता पैदा कर दी है, हमने इस व्यवस्था को अपने स्कूल के प्राइमरी सेक्शन में भी लागू करने का साहस जुटा लिया। प्राइमरी पाठशाला हमारे विश्वविद्यालय से रणनीतिक रूप से सबसे अधिक दूरी पर खड़ा बुर्ज़ है। इस कक्षा के बच्चों ने अपनी पहली झोपड़ियाँ अभी खड़ी की हैं। वे अपने काम पर गर्व करते हैं। उनके व्यवहार से लगता है कि उन्होनें सोचना शुरू कर दिया है कि शिक्षा जीवन की साहसिक यात्रा का स्थायी अंग हैं, कि शिक्षा उनके अज्ञान की जन्मजात बीमारी को दूर करने वाली दर्दनाक अस्पताली चिकित्सा नहीं है, बल्कि स्वस्थ शरीर की क्रिया है, उनके मस्तिष्क की जीवन्तता की सहज अभिव्यक्ति है। मेरा सौभाग्य है कि मैं अपने संगठन के एक कोने में जीवन की पहली बाढ़ को सिर उठाते देख रहा हूँ। मेरा इरादा बिना कोई महानता पूर्ण नामपट्ट दिए इस लता को बढ़ने देने का है, ताकि यह उस बाँझ डण्डे को पूरी तरह छिपा ले जो कोई प्राकृतिक फलफूल तो नहीं ही पैदा करता, अलबत्ता परीक्षा में सफलता का झण्डा व्यर्थ टाँगे रहता है।

अपनी बात खत्म करने से पहले मैं अपने शैक्षिक प्रयास के सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुद्दे के बारे में दो एक शब्द कहना चाहूँगा।

बच्चों का एक सक्रिय अवचेतन मस्तिष्क होता है जो पेड़ की तरह अपने आसपास के वातावरण से अपने लिए खुराक ग्रहण करता है। उनके लिए वातावरण नियमों और पद्धतियों, इमारतों, कक्षा की शिक्षाओं और पाठ्य द्वारा निर्धारित पुस्तकों से बहुत ज़्यादा महत्वपूर्ण है। पृथ्वी पर धरती और जल के रूप में पदार्थ मौजूद हैं। लेकिन, अगर मुझे लाक्षणिक भाषा की इज़ाजत दी जाए तो, वह अपनी स्वतंत्रता की प्रेरणा अपने वातावरण से प्राप्त करती है, वातावरण ही उसके जीवन की उत्प्रेरक शक्ति है। वातावरण जैसे उसके लिए निरन्तर शिक्षा का परिवृत्त है। वातावरण ही पृथ्वी की गहराइयों में से रंग और गंध, संगीत और गति के रूप में प्रत्युत्तर खींच लाता है, उसे निरन्तर अश्रुतपूर्व आश्चर्यों में अपने को व्यक्त करने को बाध्य करता है। मनुष्य भी समाज में अपने लिए संस्कृति का वातावरण चारों और फैला हुआ पाता है। संस्कृति मानव मस्तिष्क को उसकी नस्ली विरासत, परम्परा से प्राप्त प्रभावों के प्रवाह के प्रति संवेदनशील बनाए रखती है, उसके लिए जमानों से चली आ रही संगठित सूझ को अनायास प्राप्त करना सहज बना देती है। लेकिन शैक्षिक संगठनों में हम खान खोदने वालों की तरह यंत्र के ज़रिए कठोर श्रम कर धरती से कुछ मूल्यवान प्राप्त करने के लिए ज़मीन खोदते रहते हैंः ज़मीन जोतने वाले की तरह आचरण नहीं करते, जिसके श्रम का प्रकृति के साथ वातावरण से सहानुभूति के निस्पृह सम्बन्ध जैसा पूर्ण सहयोगपरक रिश्ता होता है।

बहरहाल, मैंने अपने संस्थान में वातावरण निर्माण की चेष्टा की है, इसे शिक्षा के अपने कार्यक्रम में प्रमुख स्थान दिया है। क्योंकि आत्मा की संवेदनशीलता के विकास के लिए, बुद्धि सहानुभूति की सच्ची स्वतंत्रता हासिल कर पाए, इसके लिए वातावरण का होना ज़रूरी है। उदासीनता और अज्ञान मनुष्य के लिए निकृष्टतम कोटि के बन्धान हैं; वे अदृश्य दीवारें हैं, जिनमें हम घिरे रहते हैं। शैक्षिक संगठनों में हमारी तर्कबुद्धि को पोषित किया जाना चाहिए, ताकि सत्य की दुनिया में अपने दिमाग को हम स्वतंत्रता उपलब्ध करा सकें, कला की दुनिया में अपनी कल्पना को मुक्त विहार करा सकें और मानवीय सम्बन्धों की दुनिया में सहानुभूति का अनुभव कर सकें। इनमें से अन्तिम तो विदेशों का भूगोल सीखने से भी अधिक महत्वपूर्ण है।

आज बच्चों के दिमाग को जानबूझकर भिन्न भाषा बोलने वाले और भिन्न रीतिरिवाज मानने वाले दूसरे लोगों

को समझने में अक्षम बना दिया गया है। इसके कारण बड़े होने पर हमारी आत्मा अन्धेरे में एक–दूसरे को घूरती रहती है, अज्ञानवश एक–दूसरे को चोट पहुँचाती रहती है और इस युग की सबसे बड़ी अन्धता का शिकार बनी रहती है। खुद ईसाई मिशनरियों ने भिन्न नस्लों और भिन्न सभ्यताओं के प्रति इस असंवेदनशीलता और असहिष्णुता को विकसित करने में भारी योगदान किया है। उन्होंने अपनी पाठ्य पुस्तकों में इसे स्थाई कर दिया है और छोटे बच्चों के भावुक दिमागों मे ज़हर भर दिया है। मैंने अपने बच्चों के दिमाग को पश्चिम के मित्रों की मदद से सहज मानव प्रेम की इस विकलांगता से बचाने की कोशिश की है। इन मित्रों ने अपनी सहानुभूतिमूलक समझदारी से हमारी सबसे बड़ी सेवा की है।

|||||||||

## पठन सामग्री क्र.– 23

# शिक्षा के विषय पर महात्मा गाँधी के विचार

Krishna Kumar, UNESCO, Vol. 23-10, 3/4, 1993, P. 507-517.

"वास्तविक समस्या यह है कि लोगों को इस बात का आभास नहीं है कि असली शिक्षा क्या है। हम शिक्षा के मूल्य को इसी तरह आँकते हैं जिस तरह ज़मीन और स्टॉक एक्सचेंज में शेयरों के मूल्य को आँकते हैं। हम केवल वही शिक्षा देना चाहते हैं जिससे छात्र अधिक से अधिक पैसा कमा सकें। शिक्षा के चरित्र में सुधार के लिए शायद ही हम कोई प्रयास करते हैं। लड़कियाँ, जिन्हें हम कहते हैं कि उन्हें कमाना नहीं, तो उन्हें क्यों शिक्षा दी जाएँ? जब तक ऐसे विचार समाज में बने रहेंगे तब तक शिक्षा का सच्चा मूल्य जानने की कोई उम्मीद नहीं है।"

(एम.के. गाँधी)

कुछ वर्षों पहले छपे एक लेख में, कृष्ण कुमार ने लिखा था कि गाँधी को छोड़कर किसी ने भी इतनी तीक्ष्णता से, इतनी पूर्णता से, औपनिवेशिक शिक्षा का बहिष्कार नहीं किया, न किसी ने इतना मौलिक विकल्प ही सामने रखा जैसा गाँधी ने प्रस्तुत किया। पाश्चात्य शिक्षा विशेष तौर पर अँग्रेज़ी की आलोचना गाँधी द्वारा की गई पश्चिमी सभ्यता की आलोचना का ही एक भाग थी। एक कहानी है कि प्रसिद्ध हो जाने के बाद जब गाँधी एक बार ब्रिटेन गए, किसी ने उनसे पूछा, भश्रीमान गाँधी, आप इंग्लैण्ड की सभ्यता के बारे में क्या सोचते हैं? जिसके जवाब में उन्होंने कहा "मुझे लगता है इसे आजमा कर देखा जा सकता है।"

## प्रारम्भिक जीवन

मोहनदास करमचन्द गाँधी का जन्म भारत के पश्चिमी इलाके में 1869 में पोरबन्दर नामक स्थान पर हुआ था। उनका लालन–पालन एक मध्यमवर्गीय परिवार में रूढ़िवादी रीति–रिवाजों के अनुसार हुआ। उनके पिताजी करमचन्द गाँधी पोरबन्दर के दीवान थे। इसके बाद वे राजकोट में प्रमुख सलाहकार हो गए। वे अपने बेटे को भी अपने नक्शेकदम पर चलाना चाहते थे। गाँधी स्कूल गए, परन्तु कुछ विशेष न करके, उन्होंने वो सब सीख लिया जिसकी उम्मीद की जाती थी। उनका विवाह तेरह साल की उम्र में सन् 1881 में हो गया। उनकी पत्नी, कस्तुरबा बाई माकनजी भी तेरह साल की थीं। वे एक स्थानीय व्यापारी की बेटी थी। जिनका चुनाव गाँधीजी के लिए किया गया था। (बाद में गाँधीजी ने बाल विवाह प्रथा का कड़ा विरोध किया)। अपनी औपचारिक स्कूली शिक्षा की समाप्ति के बाद उन्होंने वकील बनने का निश्चय किया, जिसके लिए उन्हें इंग्लैण्ड जाना पड़ा। 1891 की गर्मियों में उन्हें *बार* में शामिल होने दिया गया। भारत लौटने के बाद उन्होंने पाया कि यहाँ एक वकील के रूप में ज्यादा सफल भविष्य नहीं बना पाएँगे, इसलिए 1893 में वे दक्षिण अफ्रीका चले गए। दक्षिण अफ्रीका के अनुभवों ने उनका जीवन ही बदल दिया। वहाँ उनका सामना उस नस्लवाद और तिरस्कार से हुआ जो उन्होंने कभी भारत में नहीं देखा था। अधिकारियों के हाथों जिस बदसलूकी/बेईज्जती को झेलना पड़ा, उसने उन्हें एक शान्त व्यक्ति से प्रतिबद्ध राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में बदल दिया। वे वास्तव में दक्षिण अफ्रीका केवल एक वर्ष के करार पर किसी भारतीय लॉ फर्म के लिए नटाल प्रान्त में काम करने के लिए गए थे। वहाँ उन्होंने भारतीय समुदायों की समस्याओं को उठाया और धीरे–धीरे पहले उनके वकील के नाते नागरिक अधिकार के मुद्दों को

लेकर लड़े और अन्ततः वे दक्षिणी अफ्रीकी भारतीयों के अधिकारों और नस्ली भेदभावों के खिलाफ चलाए गए राजनीतिक आन्दोलनों के नेता बन गए। उनके तरीके असाधारण थे। उन्होंने सत्ता के खिलाफ एक संघर्ष शुरू किया जो उनके कट्टर हिन्दू विश्वास, अहिंसा पर आधारित था। जिसका अर्थ था एक गैर–हिंसात्मक विरोध – कुछ कानूनों का शान्तिपूर्ण भंग, सामूहिक गिरफ्तारियाँ, अधिकारियों का असहयोग, बहिष्कार व विशाल पदयात्राएँ।

ये तरीके बाद में भारत को ब्रिटिश साम्राज्य से स्वतंत्रता दिलाने के आंदोलन में और परिपूर्ण हुए। गाँधीजी के विचार दक्षिण अफ्रीका के अनुभवों के परिणामस्वरूप धीरे–धीरे प्रभावी होते चले गए। जिन विचारों को उन्होंनें दक्षिण अफ्रीका में पहले कुछ वर्षों में ही स्थापित किया, उनका विकास वे जीवन पर्यन्त फरक–फरक परिस्थितियों में भारत की स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ने के लिए करते गए। हालाँकि वे विचार एक बृहत वैश्विक सन्दर्भ में आधुनिक सम्यता के पूर्ण बहिष्कार में स्थित थे। उनका तथाकथित आधुनिक या पाश्चात्य सभ्यता का बहिष्कार परिपूर्ण था। उन्होंने उसे एक शैतान का साम्राज्य बताया, जो छूते ही किसी को भी प्रदूषित कर रहा है। औद्योगीकरण, मशीनें, संसदीय/पार्लियामेंटरी सरकार, ब्रिटिश साम्राज्य का विकास और वे बहुत सी बातें जिन्हें लोग प्रगति/तरक्की बता रहे थे, गाँधी ने इस तरह के आधुनिकवाद का विरोध किया। आधुनिक सभ्यता के विरोध में उन्होंने प्राचीन सभ्यता को प्रस्तुत किया जिसमें आत्म–निर्भर और आत्म–शासित ग्रामीण समुदायों पर विशष ज़ोर दिखाई देता था। उन्हें पश्चिमी सभ्यता के भारत पर कसते शिकंजे की बड़ी चिन्ता थी। जिन भौतिक मूल्यों को ब्रिटिश राज ने भारत पर थोपा उनका विरोध प्राचीन भारतीय आध्यात्म से ही किया जा सकता था। बार–बार उन्होंने अपने जीवन काल में अपनी वैभवशाली सभ्यता, जो कि हर उस चीज़ से महान थी जो एक आधुनिक समाज दे सकता है, की ओर लौटने का अह्वान किया।

## स्वराज एवं स्वदेशी

गाँधी का मक्सद जैसा कि उन्होंने कहा स्वराज और स्वदेशी था। ये दोनों ही शब्द गाँधीजी के सपनों के समाज का प्रतिनिधित्व करते थे। स्वराज का एक बुरा अनुवाद स्वतंत्रता/स्वायत्ता/स्वशासन/देशी शासन के रूप में किया जा सकता है। स्वदेशी को आत्म निर्भरता या आत्म सम्पन्नता (self sufficiency or self reliance) के रूप में भी अनुवादित किया जा सकता है।

स्वराज से गाँधीजी का तात्पर्य भारत से अँग्रेज़ों को बाहर निकालकर स्वतंत्रता घोषित करना नहीं था। उनका अभिप्राय एक पूर्णतः नया समाज स्थापित करना था। उनका इरादा अँग्रेज़ों के स्थान पर ऐसे भारतीयों को लाना नहीं था जो अँग्रेज़ों जैसा काम कर रहे थे। अगर ऐसा ही हुआ तो सच्ची स्वतंत्रता की प्राप्ति हुई है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। बस फरक इतना है कि लोग बदल गए हैं, सरकार वही है। गाँधी ब्रिटिश राज के मूल्यों व जीवनशैली को एक सरल, ज़्यादा आध्यात्मिक और सामुदायिक जीवन शैली में बदल देना चाहते थे। ये नया समाज पूर्व–औपनिवेशिक काल के पुराने मूल्यों को प्रस्थापित करता था, गाँवों पर आधारित था। उनका कहना थाः–

“आज़ादी सबसे नीचे से शुरू होनी चाहिए। इसलिए हरेक गाँव एक गणतंत्र होगा.... जिसके पास सभी शक्तियाँ होंगी। इसलिए हर गाँव को आत्म पोषित होना होगा जो अपने सभी कार्यों के प्रबन्धन में सक्षम होंगे। और अन्ततः प्रत्येक व्यक्ति इकाई होगा। मगर इसमें पड़ोसियों से व दुनिया से स्वैच्छिक मदद और उन पर निर्भरता को अलग नहीं किया जाएगा। इस ढाँचे में, जिसमें असंख्य गाँव होंगे, अनवरत फैलाने वाले वृत्त होगें, एक दूसरे के ऊपर चढ़ते हुए वृत्त नहीं। जीवन कोई पिरामिड नहीं होगा जिसके शिखर का भार उसके आधार पर पड़ा करे।”

नए भारत में गाँधीजी की सोच में हर धर्म को बराबर और पूरा स्थान प्राप्त था (वे विभाजन के सख्त खिलाफ थे)। साथ ही, उसमें ऐसी मशीनों के लिए कोई स्थान नहीं था जो मानव श्रम को विस्थापित करें और ताकत को केवल कुछ हाथों में सौंप दें।

गाँधीजी के संकलित लेखन में, 1942 में लिखा एक अंश पढ़ने को मिलता है, जिसमें गाँवों की भूमिका के बारे में उन्होंने कहा कि "स्वराज से मेरा अभिप्राय सम्पूर्ण गणतंत्र से है, जो अपनी आवश्यक ज़रूरतों की पूर्ति के लिए अपने पड़ोसी पर निर्भर नहीं होगा, लेकिन साथ ही जहाँ निर्भरता भी ज़रूरी है वहाँ परस्पर निर्भर भी है।"

वे आगे कहते हैं :—

इसलिए प्रत्येक गाँव की पहली चिन्ता अपने लिए खाना और कपड़े के लिए सूत पैदा करना होगी। उनमें अपने पशुओं के लिए जगह होगी और बच्चे और युवाओं के लिए खेल के मैदान हों और फिर अगर कोई अतिरिक्त भूमि उपलब्ध हो तो वहाँ उपयोगी नकदी फसलें उगाई जाएँ, जिसमें गाँजा, तम्बाकू, अफीम आदि को एकदम बाहर किया जाए। गाँवों में एक थियेटर होगा, स्कूल और पंचायत घर होंगे। गाँवों में अपने पीने योग्य पानी की सुविधा हेतू व्यवस्था होगी। ये सब नियंत्रित कुओं और तालाबों के ज़रिए होगा। शिक्षा बुनियादी पाठ्यक्रम तक अनिवार्य होगी। जहाँ तक सम्भव होगा सभी गतिविधियाँ सहयोग की भावना पर आधारित होगी। जिनमें कोई जात नहीं होगी, जैसा कि आज हमारे बीच में छुआ—छूत के साथ मौजूद है। असहयोग की नीति के साथ—साथ अहिंसा ही गाँव के समुदाय का कानून होगी। गाँव में नियमित रूप से एक चौकीदार की व्यवस्था होगी। यह काम बारी—बारी से गाँव के लोगों को ही करना होगा। गाँव की सरकार पंचायत (पाँच पंचों) द्वारा चलाई जाएगी जिनका चुनाव गाँव के वयस्क महिला—पुरुषों द्वारा, जिनको न्यूनतम योग्यता हासिल होगी, किया जाएगा। इनके पास सभी आवश्यक न्यायिक अधिकार व सत्ता होगी। आमतौर पर सज़ा की जो समझ है ऐसी कोई व्यवस्था इन गाँवों में नहीं होगी, इसलिए पंचायत में ही उसकी समयावधि के लिए सभी वैधानिक, न्यायिक, और कार्यकारी अधिकार होंगे।

## शिक्षा

सही अर्थों में एक सभ्य और स्वतंत्र भारत की अपनी दृष्टि और मूल्यों के चलते, यह स्वाभाविक ही था कि शिक्षा के बारे में गाँधीजी के दृढ़ विचार थे। शिक्षा न केवल नई पीढ़ी को ढालने का काम करती है, बल्कि समाज में अपने बारे में निहित मान्यताएँ प्रदर्शित करती है। दक्षिण अफ्रीका में उनके अनुभवों ने न केवल राजनीति के प्रति उनके दृष्टिकोण को बदला, बल्कि संघर्ष के लिए शिक्षा के महत्व को समझने में मदद की। वे इस बात से सचेत थे कि उन्हें पश्चिमी शिक्षा का लाभ मिल रहा है और जब वे दक्षिण अफ्रीका में थे उन्होंने भारतीयों पर भी इसका लाभ लेने के लिए दबाव बनाया। तथापि 20 वीं सदी के शुरुआती वर्षों तक, जबकि वो अपनी उम्र के तीसरे दशक के मध्य में थे, वे अँग्रेज़ी के इतने विरोधी नहीं थे कि वे इस शिक्षा की संड़ाँध के बारे में लिखें और लिखें कि लाखों लोगों को अँग्रेज़ी की शिक्षा देना उन्हें दास बनाना है, या कि अँग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करके हम अपने देश को गुलाम बना रहे हैं। वे इस बात से खफा थे कि उन्हें स्वतंत्रता या होमरूल की बात एक विदेशी भाषा में करनी पड़ी, या उन्हें अदालत में अपनी मातृभाषा में काम नहीं करने दिया जाता या फिर सभी दस्तावेज़ अँग्रेज़ी में उपलब्ध हैं, सभी अच्छे अखबार अँग्रेज़ी में मिलते हैं, व कुछ चुनें हुए लोगों के लिए अँग्रेज़ी में शिक्षा उपलब्ध होती है। उन्होंनें इसके लिए औपनिवेशिक सत्ता को ज़िम्मेदार नहीं माना। उन्होंनें माना कि यह बिल्कुल तार्किक है कि अँग्रेज़ यह चाहें कि कुछ सम्भ्रान्त भारतीय, मूल्य और व्यवहार, में अँग्रेज़ी शासकों की तरह ही हो जाएँ। इसी तरह से साम्राज्य को संगठित किया जा सकता है। गाँधी ने अपने साथी भारतीयों को इस स्थिति को अपनाने के लिए ज़िम्मेदार माना। बाद में अपने जीवन में उन्होंने घोषणा की कि सच्ची स्वतंत्रता तभी मिल सकती है जबकि हम पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से अपने आपको मुक्त कर सकें, पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति और पाश्चात्य जीवन शैली, जो हमारे अन्दर बस चुकी है, से मुक्ति ही सच्ची स्वतंत्रता है।

जैसा कि हमने देखा गाँधी ने न केवल औपनिवेशिक शिक्षा की भर्त्सना की बल्कि एक आमूल विकल्प भी सामने रखा। यह विकल्प क्या था और उसमें आमूल परिवर्तनकारी क्या था?

सबसे पहले मैं औद्योगीकरण के प्रति गाँधीजी के व्यवहार के बारे में कुछ शब्द कहना चाहूँगा। वास्तव में गाँधी आधुनिक मशीनरी के सख्त खिलाफ थे। उनके संकलित लेखों में यह जिक्र मिलता है कि मशीनों ने कैसे भारत

को गरीब बनाया, कैसे उस नुकसान का अन्दाजा लगाना मुश्किल है जो मैनचैस्टर ने भारत को मशीन के बने कपड़े पहुँचाकर किया है, जिसने बदले में हाथकरघा से बने कपड़े का घरेलू बाज़ार समाप्त कर दिया। तथापि एक बार फिर, गाँधी इसके लिए मैनचैस्टर या मिल मालिकों को दोषी नहीं ठहराते हैं। "हम मैनचैस्टर को कैसे दोषी ठहरा सकते हैं?" वे लिखते हैं, "हम मैनचैस्टर के कपड़े पहनते हैं इसलिए मैनचैस्टर इन्हें तैयार करता है।" हालाँकि उन्होंने गौर किया कि भारत में जहाँ कपड़ा मिल का पदार्पण नहीं हुआ है जैसे कि बंगाल वहाँ हथकरघा उद्योग फल–फूल रहा है। और जहाँ मिल है जैसे बम्बई, वहाँ श्रमिक गुलाम बन गए हैं। बम्बई की मिलों में महिलाओं की स्थिति देखकर वे हैरान थे और कहा कि मिलों के आने से पहले ये महिलाएँ भूखी नहीं मरती थीं। उन्होंने माना, अगर भारत में मिल की लत बढ़ती है तो ये एक दुखभरी जगह बन जाएगी। वे चाहते थे कि भारतीय लोग केवल कपड़ों का ही नहीं बल्कि मशीन की बनी हर वस्तु का बहिष्कार करें।

गाँधीजी पूरी तरह स्पष्ट हैं जब वे पूछते हैं कि यह सब निर्मित माल आने से पहले भारतवासी क्या करते थे? और जवाब में वे कहते हैं कि "आज भी वही करना चाहिए।" जब तक हम मशीन के बगैर पिन नहीं बना पाते हैं, तब तक हम पिनों के बिना काम करेंगे। हमें काँच की बनी तड़क–भड़क वाली चीज़ों की कोई ज़रूरत नहीं है। घर की पैदा की गई रूई से हम बतीया बनाएँगे जैसे पहले बनाते थे, और हाथ से बने हुए दीए तथा कटोरों का प्रयोग करेंगे। और इसी तरह से करते हुए हम अपनी आँखें और अपना पैसा दोनों बचाएँगे और स्वदेशी को भी बढ़ावा देंगे, और इसी तरह हम स्वराज भी प्राप्त कर लेंगे।

मशीन रहित समाज की ज़रूरत के सन्दर्भ में गाँधी ने शिक्षा के ऊपर अपने विचार विकसित किए। उनका प्रस्ताव था उत्पादक हस्तशिल्प को स्कूली पाठ्यक्रम का केन्द्र बिन्दु बनाना। और यह विचार केवल हस्तशिल्प को स्कूल का विषय मात्र बनाना नहीं था बल्कि शिल्पकला के अध्ययन को सम्पूर्ण शिक्षण कार्यक्रम का केन्द्रीय तत्व बनाना था। जहाँ हस्तशिल्प जातीय व्यवस्था की श्रेणीबद्धता में सबसे निचले समूह के लोगों का पेशा है, ऐसे में यह विचार स्कूली ज्ञान के समाजशास्त्र में एक आमूल–चूल ढाँचागत बदलाव का अन्देशा देता है। बुनाई, कताई, चमड़े का काम, बर्तन बनाना, धातु कार्य, टोकरी बनाना, जिल्दसाजी जैसी उत्पाद प्रक्रिया का ज्ञान इन हस्तशिल्पों में निहित होता है। साथ ही कुछ खास जातीय समूहों का एकाधिकार भी इन कामों पर होता था विशेष तौर पर उनका जो सामाजिक श्रेणीबद्धता में निचले पायदान पर हैं, जिनमें से कई "अछूत" हैं। भारतीय पारम्परिक शिक्षा व्यवस्था भी औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था की ही तरह साक्षरता और उस तरह के ज्ञान की प्राप्ति पर ज़ोर देती थी जिस पर सवर्णों का एकाधिकार था।

गाँधी के प्रस्ताव ने शिक्षा व्यवस्था को सर के बल खड़ा कर दिया। गाँधी की "बुनियादी शिक्षा" का दर्शन और पाठ्यक्रम समाज के निचले तबके के बच्चों का पक्षधर था। इस तरह यह सामाजिक परिवर्तन का कार्यक्रम था। इसका उद्देश्य शिक्षा के प्रतीकात्मक अर्थ को बदलना और शिक्षा के अवसरों के स्थापित ढाँचे को बदलना था।

गाँधीजी द्वारा स्कूल में हस्तशिल्प को लाने का प्रस्ताव इतना अतिवादी नहीं था जितना की दिखता है। उनकी इच्छा, जितना सम्भव हो सके, स्कूलों को आत्मनिर्भर बनाने की थी। इसके दो कारण थे। पहला भारत जैसे गरीब देश में सभी बच्चों को शिक्षा देना सम्भव नहीं है अगर स्कूल स्वयं आत्मनिर्भर नहीं होंगे। दूसरा, स्कूल जितने आर्थिक तौर पर आत्मनिर्भर होंगे, उतने ही वे राजनैतिक रूप से स्वतंत्र होंगे। गाँधी राज्य पर निर्भरता से बचना चाहते थे, क्योंकि उन्हें लगता था कि यह सीधे–सीधे केन्द्र का हस्तक्षेप होगा। गाँधी आत्मनिर्भरता एवं स्वायत्तता को सबसे ज़्यादा महत्व देते थे। यह उनके सपनों के भारत, जो कि सम्प्रभु ग्रामीण समुदायों से मिलकर बना था, के अस्तित्व के लिए अति आवश्यक बात थी। 'स्वराज' और 'स्वदेशी' का मिश्रण शिक्षा व्यवस्था से भी जुड़ा था। जहाँ तक गाँधी का मानना था स्वतंत्र भारत में राज्य संचालित शिक्षा व्यवस्था अपने आप में एक पूरी तरह विरोधाभासी बात होती।

उनका यह मानना था कि शारीरिक कार्य को मानसिक कार्य की तुलना में कमतर नहीं मानना चाहिए। उन्होंने माना कि "अच्छे जीवन" के लिए एक दस्तकार और श्रमिक का काम एक आदर्श होना चाहिए। जो स्कूल ऐसे उत्पादन कार्यों में लगे थे जिनसे सभी का फायदे होता था, ऐसी शिक्षा दे सकते थे जो व्यक्ति के लिए पूर्ण शिक्षा

हो – मन–शरीर और आत्मा की।

गाँधी की शिक्षा योजना में दैनिक पाठ्यक्रम के सन्दर्भ में स्वयत्तता का जो अधिकार एक शिक्षक को दिया गया वो टॉल्सटाय के लिबर्टेरियन सिद्धान्तों से बहुत समानता रखता था। गाँधी भारतीय शिक्षकों को बाहरी हस्तक्षेप से मुक्त रखना चाहते थे, खास तौर से सरकार और राजकीय नौकरशाही से औपनिवेशिक शासन के अर्न्तगत शिक्षक के पास एक निश्चित काम था जो इस बात पर आधारित था कि शासन बच्चों को क्या सिखाना चाहता है। पाठ्यपुस्तकें अनिवार्य थीं इसलिए गाँधी ने पाया कि शिक्षक के जीवित शब्द बच्चों के लिए खास मायने नहीं रखते हैं। एक शिक्षक जो पाठ्यपुस्तक को पढ़ाता है वह बच्चों को मौलिक ज्ञान नहीं दे पाता है। गाँधीजी की योजना पुस्तकों और पाठ्यक्रम के समक्ष शिक्षक की कमज़ोर स्थिति को समाप्त करना चाहती थी। यह सीखने की एक ऐसी अवधारणा को प्रस्तुत करती थी जो केवल पाठ्यपुस्तकों की मदद से ही लागू नहीं की जा सकती थी। पाठ्यक्रम के मामले में शिक्षक की स्वतंत्रता, अगर ज़्यादा नही तो बराबर महत्व रखती थी। उसमें राज्य को यह तय करने का अधिकार नहीं था कि शिक्षक कक्षा में क्या पढ़ाएँ और क्या करें। इसमें शिक्षक को अधिकार थे, मगर मूलतः यह स्कूली शिक्षा के प्रति एक लिबर्टेरियन नज़रिया था जिसमें शक्ति राज्य से गाँवों को सौंपी गई थी।

गाँधी की बुनियादी शिक्षा वास्तव में उनके आदर्श समाज की छवि को साकार करती है जो छोटे, आत्मनिर्भर समुदायों से बना है, और जिसके आदर्श नागरिक उद्‌यम, आत्म सम्मान और उदारता के गुणों से परिपूर्ण हैं और छोटे सहकारी समुदायों में रहते हैं।

एक अनौपचारिक शिक्षक के लिए हम इससे कई उपयोगी सुझाव ले सकते हैं। जैसे कि गाँधी का स्वायत्तता और आत्म–नियंत्रण पर ज़ोर देना अनौपचारिक शिक्षा के माहौल में भी झलकता है। गाँधीजी की बुनियादी शिक्षा की अवधारणा रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से सीखे ज्ञान से जुड़ती थी, जिसको आधार बनाकर ही अनौपाचारिक शिक्षक काम करते हैं। यह एक ऐसी शिक्षा है जिसमें व्यक्ति को ध्यान में रखा गया है मगर यह व्यक्तियों के बीच सहयोग पर निर्भर है। इसमें शिक्षक और छात्र के बीच के रिश्तों की एक चिरपरिचित तस्वीर भी पेश की गई है।

"एक शिक्षक जो बच्चों के साथ तादात्म्य बनाता है, घुल मिल जाता है, वह उन्हें सिखाने की बजाय उनसे कहीं ज़्यादा सीखता है। जो अपने शिष्यों से कुछ नहीं सीखता है वह बेकार है। जब भी मैं किसी से बात करता हूँ तो उससे कुछ न कुछ सीखता हूँ। मैं उसे देने से ज़्यादा उससे लेता हूँ। इस तरह एक सच्चा शिक्षक स्वयं को अपने शिष्य का शिष्य ही मानता है। अगर तुम इस भाव के साथ विद्यार्थियों को पढ़ाओगे, उनसे तुम्हें बहुत लाभ मिलेगा।"

अन्त में यह एक ऐसी शिक्षा थी जो सम्पूर्ण व्यक्तित्व को शिक्षा देती थी, बजाय उसके किसी एक पहलू पर ध्यान केन्द्रित करने के। यह एक बहुत ही नैतिक गतिविधि थी।

|||||||||

## पठन सामग्री क्र.– 24

# टैगोर और गाँधी के शैक्षिक आदर्शों का तुलनात्मक अध्ययन

**देशज शिक्षा औपनिवेशिक विरासत और जातीय विकल्प, परमेश आचार्य, अनुवाद–अनिल राजिमवाले, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, नई प्रथम हिन्दी संस्करण दिल्ली, पृष्ठ 162–175.**

1

शुरू में ही मैं स्पष्ट कर दूँ कि यह लेख दो महानतम भारतीय शिक्षाविदों रवींद्रनाथ टैगोर और मोहनदास करमचन्द गाँधी के शैक्षिक आदर्शों को समझने की मात्र एक साधारण सी कोशिश भर है। वर्तमान बदलते भारतीय अर्थतंत्र के परिप्रेक्ष्य में इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन बड़ा दिलचस्प होगा। इससे हमें यह समझने का मौका मिलेगा कि हमारी शिक्षा प्रणाली हमारे शिक्षकों के आदर्शों से कितनी अलग है। आदर्श और वास्तविकता के बीच की दूरी हमें निराश करती है। लेकिन हमें पूरी तरह निराश नहीं होना चाहिए। हमें शैक्षिक विचारों के इतिहास से समझना होगा कि किसी भी देश में शिक्षा का विकास आखिरकार महान शिक्षाविदों के विचारों से नहीं बल्कि आवश्यकता अर्थात् बाज़ार की ताकतों से तय होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि शिक्षा प्रणाली निर्णित करने में महान शिक्षाविदों की भूमिका है ही नहीं। उनके विचारों का प्रभाव शिक्षा प्रणाली पर देखा जा सकता है। कोई भी विचार बिना प्रभाव छोड़े नहीं रहता। लेकिन साथ ही यह भी सच है कि किसी भी देश ने रूसो, डिवी, टैगोर और गाँधी सरीखे महान शिक्षकों के शैक्षिक विचारों को मुख्य शिक्षा प्रणाली के अंग के रूप में नहीं अपनाया।

शिक्षा सम्बन्धी वर्तमान विचारों के सन्दर्भ में टैगोर और गाँधी के शैक्षिक आदर्शों का वस्तुगत अध्ययन मुझे कठिन दिखाई देता है। टैगोर मुझे गाँधी से अधिक कठिन दिखाई देते हैं, शायद लिखने की उनकी मोहक शैली के कारण। उनकी शैली विश्लेषणात्मक से अधिक सांकेतिक है। इसलिए वह दिमाग की बजाय दिल को अधिक अपील करती है। आखिर वे एक कवि हैं इसलिए उनके शैक्षिक विचार एक कवि के दिमाग की उपज है जिनमें स्वाभाविक है अलग–अलग किस्म के विचार मिले–जुले हैं। इसीलिए उन पर विभिन्न प्रकार की इतनी टिप्पणियाँ पाई जाती हैं। दूसरी ओर, गाँधी नैतिक राजनीति से जुड़े हुए थे। उनकी सोच–समझ आम जनता की इच्छाओं–ज़रूरतों से पूरी तरह मेल खाती थी। वे जनता की भाषा में सोचा करते। उन्हें शिक्षा सम्बन्धी विवेचना में कोई दुविधा नहीं थी। उनकी शिक्षा नैतिकता पर आधारित राजनीतिक कार्यक्रम से जुड़ी हुई थी। यह कहा जा सकता है कि उनसे पहले किसी भी शिक्षाविद या राजनीतिज्ञ ने शिक्षा की राजनीति पर इस तरह विचार नहीं किया। शायद यही टैगोर और गाँधी में महत्वपूर्ण अन्तर था। साथ ही, उनके शैक्षिक विचारों में समानता भी थी, खासकर दार्शनिक स्तर पर। लेकिन यदि हम उनके बीच अन्तर की उपेक्षा करेंगे तो बेसिक शिक्षा के मूल कारणों की ही उपेक्षा करेंगे। वास्तव में, उन दोनों ने स्वयं ही कई बार अपने मतभेद खुलकर प्रकट किए।

शायद यह सही है कि अब तक जिन्होंने इस विषय का अध्ययन किया है, उन्होंने इन दो व्यक्तियों के बीच अन्तर की बजाय समानताओं पर अधिक ज़ोर दिया है। 1947 में *द विश्व भारती क्वार्टरली* ने "मुक्त भारत" में शिक्षा की चुनौतियों पर विचार करते हुए एक विशेष शिक्षा अंक प्रकाशित किया। इसका उद्‌देश्य था "उत्तर देने की बजाय प्रश्न खड़े करना.... ।" इसमें टैगोर और गाँधी के शैक्षिक विचारों और प्रयोगों के बारे में भारत के प्रमुख विद्वानों के महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किए गए। मेरे विचार में यह विचार–विमर्श काफी गहरा था। उसे राष्ट्रीय

शिक्षा प्रणाली विकसित करने के हित में आगे जारी रखा जाना चाहिए था। दुर्भाग्यवश भारत में शिक्षा–सम्बन्धी विवेचना नेहरूवादी आधुनिकीकरण कार्यक्रम के तहत परिवर्तित हो गया। राष्ट्रीय बहस में गाँधी और टैगोर दोनों का ही महत्व कम हो गया। दोनों को सड़कों एवं भवनों के नामों के द्वारा अधिक जाना जाने लगा। हमारे शहरों की सड़कों एवं भवनों के नामों में गाँधी और टैगोर अवश्य पाए जाते हैं। इस बीच राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली औपनिवेशिक व्यवस्था की विरासत बनी हुई है। वह अधिकाधिक अलग–अलग किस्म की और किताबी बनती जा रही है।

2

19वीं सदी का अन्त आते–आते भद्रलोक के लिए अँग्रेज़ी शिक्षा उतनी मोहक नहीं रह गई थी जितनी कि वह उस सदी की शुरुआत में थी। भारतीय भद्रलोक अँग्रेज़ी शिक्षा की शिक्षाप्रद भूमिका और समाज के मोहजाल से मुक्त हो रहे थे, हालाँकि पूरी तरह नहीं। वास्तव में उस सदी के मोड़ तक भारत में शिक्षा–सम्बन्धी बहस ने अलग रास्ता पकड़ लिया। मैकाले का अब भारतीय मानस पर प्रभाव नहीं रह गया था। उसका स्थान भारतीय गर्व ने ले लिया। अब शैक्षिक विवेचना में मातृभाषा और राष्ट्रीय संस्कृति को महत्व का स्थान मिला। इसमें कोई अचरज नहीं कि टैगोर और गाँधी दोनों ही ने शिक्षा के बारे में बहस की शुरुआत औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली की आलोचना से की। राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली विकसित करने की उनकी इच्छा से उनके शैक्षिक आदर्श विकसित हुए। शिक्षा और समाज के बारे में उनकी रचनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है जैसे, टैगोर ने अपना लेख 'स्वदेशी समाज' (1905) में लिखा और गाँधी ने 'हिन्द स्वराज' (1908) में। दोनों ही ने 'आत्मशक्ति' को 'स्वराज' का सार बताया। दोनों ने अँग्रेज़ी शिक्षा तथा मातृभाषा की उपेक्षा के बुरे प्रभावों की ओर ध्यान दिलाया। टैगोर मूल रूप से कवि थे। जैसा कि हम बाद में देखेंगे, वे राष्ट्रवाद का पूरी तरह त्याग करके राष्ट्रीय सीमाओं से आगे बढ़ जाते हैं। दूसरी ओर गाँधी एक राजनीतिक व्यक्ति थे जिन्होंने अपना जीवन मानवीय जीवन के नैतिक सार को हासिल करने में लगा दिया। उनका विश्वास था कि भारतीय सन्दर्भ में राष्ट्रवाद की ऐतिहासिक भूमिका की मान्यता इसकी सीमा पर विजय पाएगी। यह याद रखा जाना चाहिए कि दोनों ही महापुरुष राष्ट्रीय जागरण के दौरान प्रसिद्धि की ऊँचाइयाँ छूने लगे। और अचरज की बात यह है कि आज़ादी के बाद दोनों ही को अजायबघर की शब्दहीन वस्तुएँ बना दिया गया है।

टैगोर ने शिक्षा पर 100 से अधिक रचनाएँ लिखीं। इसके अलावा उनकी कई अन्य रचनाओं में भी शिक्षा सम्बन्धी विचार पाए जाते हैं। उनकी कुछ रचनाओं में रूसो और डिवी सरीखे महान शिक्षाविदों के विचारों का कुछ प्रतिबिम्ब भी पाया जा सकता है। फिर भी वे अलग किस्म के थे। उनके अपने अलग विचार थे और उन्होंने शैक्षिक विचारों एवं आदर्शों की दुनिया में अपना अलग ही स्थान बना लिया। इस छोटे से लेख में शिक्षा सम्बन्धी उनके सारे विचारों को छू पाना भी सम्भव नहीं। इसलिए मैं केवल उन बिन्दुओं पर ही विचार करूँगा जो मेरी समझ में उनके शैक्षिक आदर्शों को समझने और इस सम्बन्ध में गाँधी के साथ उनकी तुलना करने में मददगार हैं।

शिक्षा सम्बन्धी टैगोर की रचनाएँ तीन व्यापक श्रेणियों में बाँटी जा सकती हैं। पहली श्रेणी में हम वे रचनाएँ शामिल कर सकते हैं जिसमें उन्होंने आलोचना निर्मित की और भारत में अँग्रेज़ी औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली की सीमाएँ दर्शाईं। ऐसे कुछ लेख थे, "शिक्षार हेर फेर" (1893), "शिक्षार बाहान" (1915), 1933 का "शिक्षार दिकिस" पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में भाषण, "शिक्षार स्वांगीकरन" पर 1936 में न्यू एजूकेशन फेलोशिप का भाषण, तथा कुछ अन्य रचनाएँ। इन लेखों में वे मुख्यतः शिक्षा के माध्यम पर विचार करते हैं, खासकर सार्वत्रकता तथा औपनिवेशिक व्यवस्था की सीमाओं के सन्दर्भ में। उन्होंने मातृभाषा की बजाय माध्यम के रूप में अँग्रेज़ी के प्रयोग की आलोचना की। उन्होंने भावविह्वल होकर मातृभाषा का समर्थन किया। वे लिखते हैं, "शिक्षाए मातृभाषाए मातृदुग्ध" (शिक्षा में मातृभाषा माता के दूध के समान है।) वे तो शिक्षा के उच्चतम चरण तक मातृभाषा लागू करने के हक में थे। यहाँ तक कि वे मातृभाषा में ही अँग्रेज़ी पढ़ाना चाहते थे। इस उद्देश्य के लिए उन्होंने एक प्राइमर "इंग्राजी सोपान" लिखा। कई विद्वानों के विचार में यह तरीका बांग्ला भाषा–भाषी बच्चों के लिए सबसे उपयुक्त

था। बंगाली विश्वविद्यालय उनका सपना था। उनके विचार में वर्तमान शिक्षा प्रणाली गहन अन्धेरे में से गुजरती ट्रेन के प्रकाशित डिब्बों के समान थी। कुछ विशेष लोग ही पढ़ पा रहे थे और भारी संख्या में जनता पीछे छूटती जा रही थी। उनकी दृष्टि में जब तक मातृभाषा माध्यम न बने, तब तक शिक्षा का प्रसार नहीं हो सकता। उनका दृढ़ मत था कि यह काम अँग्रेज़ी माध्यम के सहारे नहीं हो सकता था। वे परीक्षोन्मुख किताबी शिक्षा के भी खिलाफ थे, जो रटकर पढ़ने को प्रेरित करता है। रटने और पुस्तकों से नकल करने के बीच बहुत कम अन्तर था क्योंकि रटने वाले भी जो कुछ किताबों में है उसे ही ज्यों का त्यों रख देते।

यह जानना समीचीन होगा कि अधिकतर उपरोक्त मुद्दों पर गाँधी के विचार मिलते–जुलते थे। वे भी किताबी पढ़ाई, परीक्षा की ओर झुकाव और रटने के खिलाफ थे। उन्होंने बहुत अधिक किताबों न रखने की सलाह दी। उनके विचार में हमारे जैसे गरीब देश में किताबें सोच–समझकर ही रखवानी चाहिए और उनकी संख्या कम होनी चाहिए। अन्यथा गरीब बच्चे पढ़ाई से वंचित हो जाएँगी। टैगोर के समान उनका भी विचार था कि मातृभाषा उच्चतम स्तर तक पढ़ाई का माध्यम होनी चाहिए। लेकिन स्कूल में अँग्रेज़ी के स्थान के बारे में दोनों के विचारों में बड़ा अन्तर था। गाँधी के अनुसार बच्चे को तब तक अँग्रेज़ी नहीं पढ़ाई जानी चाहिए। जब तक वह 14 वर्ष की आयु का न हो जाए। बाद में भी सबों को पढ़ना जरूरी नहीं था। वास्तव में "नई तालीम" नामक उनकी शिक्षा प्रणाली में अँग्रेज़ी के लिए कोई जगह नहीं थी। दूसरी ओर, टैगोर शुरू से ही अँग्रेज़ी पढ़ाने के पक्ष में थे। शान्तिनिकेतन में ग्रामीण बच्चों के एक स्कूल 'शिक्षा सत्र' में कक्षा एक से ही अँग्रेज़ी पढ़ाई जाती थी। यह उन्होंने "शिक्षार स्वांगीकरन" में जो कुछ कहा, उसके विपरीत है। वहाँ उन्होंने कहा था, "शिक्षा में मातृभाषा माता के दूध के समान है।" अन्य स्थानों पर अपने बचपन के अनुभव का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि अपनी मातृभाषा में कुछ क्षमता हासिल कर लेने के बाद बच्चे को अँग्रेज़ी से परिचित कराना चाहिए। टैगोर जब 12 वर्ष के थे और बांग्ला में अच्छी प्रगति कर चुके थे, तभी उनका परिचय अँग्रेज़ी से कराया गया था।

लेकिन गाँधी के विचार इस सम्बन्ध में बड़े ही मूलगामी थे। वे माध्यम या अनिवार्य विषय के रूप में अँग्रेज़ी के दृढ़ विरोधी थे। वे लिखते हैं, "भारत में जितने अन्धविश्वास हैं, उनमें सबसे बड़ा यह है कि आज़ादी के विचार और सही विचार अपनाने के लिए अँग्रेज़ी भाषा का ज्ञान निहायत ज़रूरी है।" यदि हम राष्ट्रीय आत्महत्या नहीं करना चाहते तो अँग्रेज़ी को विचारों का माध्यम नहीं बनाया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में नवजागरण वाले बंगाली भद्रलोक और गाँधी के बीच दिलचस्प अन्तर है। प्रसिद्ध विद्वान और इस भद्रलोक के कबीले के सच्चे प्रतिनिधि राजेन्द्रलाल मित्र ने एक बार कहा था कि "यदि अँग्रेज़ी में न सोचना होता और अँग्रेज़ी में अपने विचार न प्रकट करने पड़ते तो राममोहन राय अधिक बड़े सुधारक होते और लोकमान्य तिलक आधिक बड़े विद्वान।.... इसमें शक नहीं कि उन दोनों ने अँग्रेज़ी साहित्य की विपुल राशि से काफी ज्ञान हासिल किया। लेकिन यह ज्ञान उन्हें अपनी मातृभाषाओं में मिलना चाहिए था। कोई भी देश अनुवादक पैदा कर राष्ट्र नहीं बन सकता। गाँधी और टैगोर के बीच यह अन्तर 1921 के असहयोग आन्दोलन के दौरान बढ़ता गया। टैगोर गाँधी द्वारा अँग्रेज़ी शिक्षा के सम्पूर्ण विरोध और शिक्षा की औपनिवेशक प्रणाली के साथ असहयोग की नीति से सहमत नहीं थे। यहाँ तक कि टैगोर ने जगदानन्द राय को लिखे एक पत्र में राष्ट्रवाद को एक "भौगोलिक भूत" बताया। वे लिखते है,"..... अब इस भूत से सारा विश्व आतंकित हो गया है। अब इससे मुक्ति पाने का समय आ चुका है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने अपना प्रसिद्ध लेख "शिक्षार मिलन" लिखा। इसमें उन्होंने पूर्व और पश्चिम के बीच आपसी लेनदेन पर ज़ोर दिया। यही 'विश्वभारती' के उनके विचार का केन्द्र था।

टैगोर पश्चिम से आधुनिक विज्ञान और टेक्नॉलॉजी का ज्ञान लेना चाहते थे। जबकि पश्चिम को पूर्व के आध्यात्मिक और आत्मोत्सर्ग के विचारों से धनी बनाना चाहते थे। वे पश्चिम का उपभोक्तावाद पसन्द नहीं करते थे। वे गाँधी द्वारा असहयोग का आह्वान, खासकर अँग्रेज़ी शिक्षा का त्याग, एक पीछे ले जाने वाला कदम मानते थे। इससे हमारे घर में ताजा हवा आनी बन्द हो जाएगी और हमारा राष्ट्रीय जीवन एक कैदखाने में बदल जाएगा। गाँधी ने जवाब दिया, "मैं अपने घर के चारों ओर दीवार खड़ी नहीं करना चाहता। मैं अपनी खिड़कियाँ बन्द नहीं करना चाहता। मैं चाहता हूँ कि सभी देशों की संस्कृति पूरी आज़ादी से मेरे घर में घूमे। लेकिन मैं

उनमें से किसी से भी धक्का खाना नहीं चाहता।" उन्होंने स्पष्ट किया कि वे अँग्रेज़ी सीखने के खिलाफ नहीं है लेकिन वे इसे हमारी शिक्षा–व्यवस्था पर हावी नहीं होने देना चाहते। वे न अँग्रेज़ी को माध्यम बनाना चाहते हैं, और न ही इसे सबके लिए अनिवार्य विषय।

3

उस वक्त टैगोर के "शिक्षार मिलन" ने विवाद पैदा कर दिया। दूसरों ने भी इसमें भाग लिया। उपन्यासकार शरतचन्द्र चटट्रोपाध्याय ने जवाब में 'शिक्षार विरोध' लिखा। इसका मुख्य मुद्दा यह था कि पूर्व और पश्चिम के बीच पारस्परिक लेनदेन सम्भव नहीं था। पश्चिम कभी भी न्यूनतम विज्ञान और टेक्नॉलॉजी नहीं देगा और न ही वह पूर्व का आध्यात्म और उत्सर्ग भावना अपनाएगा। उल्टे वे चाहेंगे कि हम हमेशा उन पर निर्भर रहें ताकि वे हमारा शोषण करते रहें। उन्होंने औपनिवेशिक शिक्षा से असहयोग करने के गाँधी के आवाहन का समर्थन किया, और कहा, "कई बार स्कूलों में भर्ती होने कि बजाय उनका बायकॉट करना अधिक शिक्षाप्रद होता है।" यह हमें ईवान इलिच के 'डीस्कूलिंग सोसाइटी' की याद दिलाता है।

सत्येन्द्रनाथ राय ने टैगोर की शैक्षिक रचनाओं की पुस्तक का सम्पादन किया है। उनके अनुसार शरतचन्द्र और टैगोर, दोनों ही अपने–अपने सन्दर्भों में सही है। उनके अनुसार टैगोर के विचार दार्शनिक स्तर पर विकसित हुए जबकि शरतचन्द के सामने तात्कालिक राजनीतिक सन्दर्भ था। लेकिन यह कोई विश्वस्त करने वाला तर्क नहीं है। एक अर्थ में "शिक्षार मिलन" उस वक्त की ताजा राजनीतिक समस्याओं के प्रति प्रतिक्रिया थी। भारतीय अर्थतंत्र का वर्तमान रुझान 'शिक्षार विरोध' में शरतचन्द्र के विचारों की पुष्टि करता है। सत्येद्रनाथ राय ने भी स्वीकार किया कि हमारा फौरी अनुभव शरतचन्द्र की आशंकाओं की पुष्टि करता है। आज़ादी के बाद से भारत सांस्कृतिक एवं शैक्षिक जीवन के सभी क्षेत्रों में निर्भरता की मानसिकता से ग्रसित है। इसलिए यह कोई अचरज़ की बात नहीं कि दूसरे सूक्ष्म इलेक्ट्रानिक उत्पादों की बात तो छोड़ ही दीजिए, भारत शेविंग ब्लेड बनाने की टेक्नॉलॉजी भी विकसित नहीं कर सका। भूमण्डलीकरण के नाम पर भारत को अमरीका तथा यूरोप के तथाकथित विकसित देशों का स्थायी उपनिवेश बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इलेक्ट्रानिक माध्यम हमारी राष्ट्रीय संस्कृति को बर्बाद करने में सफल हो गए हैं। साथ ही उन्होंने तथाकथित विकसित देशों की अति असभ्य पूँजीवादी संस्कृति को आगे बढ़ाया है।

शायद गाँधी ही एकमात्र ऐसे भारतीय नेता थे जिन्होंने ऐसे रास्ते के खतरे को पहचाना कि उन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं रह सकेगा। आधुनिकीकरण के सिद्धान्त पर आधारित विकासवाद के रास्ते पर चलने के नतीजे पहचानने की उनमें दूरदृष्टि थी। विकास की निरन्तर प्रक्रिया की गलती के प्रति वे सचेत थे। यूरोप और अमरीका में अपनाए गए आधुनिकीकरण प्रक्रिया की अपर्याप्तता और दमनकारी चरित्र को वे पहले ही समझ गए थे। साथ ही, शायद वे ही एकमात्र नेता थे जिन्होंने इन देशों की अन्धी नकल करने की बजाय विकल्प के बारे में सोचा। मानवता के भविष्य के लिए विकल्प के हिस्से के रूप में उन्होंने ग्राम–आधारित अर्थतंत्र और कार्य–आधारित शिक्षा की कल्पना की। गाँधी के लिए शिक्षा वास्तव में उनके सम्पूर्ण राजनीतिक कार्यक्रम का हिस्सा थी। गाँधी का विश्वास था कि राजनीति एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य मानव मूल्यों को मुक्त करना होना चाहिए।

गाँधी के लिए स्वराज का अर्थ सिर्फ राजनैतिक आज़ादी नहीं था। स्वराज से उनका मतलब "जनता के अर्थों में आत्मशासन" था। देशभक्ति से उनका मतलब "सम्पूर्ण जनता की भलाई" था। उनके विचार में शोषक समाज में स्वराज हासिल नहीं किया जा सकता। उनकी दृष्टि में जनता का स्वराज हासिल करने के लिए जनता की शिक्षा का राष्ट्रीय कार्यक्रम होना ज़रूरी था। उनके अपने शब्दों में, "स्वराज की तीर्थयात्रा एक दुखदाई यात्रा है। इसमें सभी विस्तृत बातों पर ध्यान देना पड़ता है। इसका अर्थ व्यापक संगठन क्षमता है, इसका अर्थ गाँवों में, मात्र गाँव वालों की सेवा के लिए काम करना है। दूसरे शब्दों में राष्ट्रीय शिक्षा के लिए जनता के लिए शिक्षा है। इसका अर्थ जनता के बीच राष्ट्रीय चेतना जगाना है।" स्वराज के गाँधी के सिद्धान्त में उनके शैक्षिक आदर्श निहित हैं।

टैगोर भी गाँवों की मुक्ति चाहते थे और ग्रामीणों की आत्मशक्ति जगाना चाहते थे। वास्तव में उन्होंने सृजनात्मक कार्य और ग्राम कल्याण को बड़ा महत्व दिया। उन्होंने आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता पर ज़ोर दिया। टैगोर ने अपने शैक्षिक प्रयोग प्रकृति की गोद में और आधुनिक शहरी इलाकों से दूर बोलपुर में शुरू किए। इससे उनकी प्राथमिकता का पता चलता है। टैगोर शिक्षा सम्बन्धी विचारों को अपनी रचनाओं की दूसरी श्रेणी में विकसित करते हैं। उनकी कुछ रचनाएँ हैंः 1909 में लिखा गया 'तपोवन', 1924 की रचना "ए पोएट्स स्कूल" (एक कवि का स्कूल), "आश्रमेर शिक्षा" (1936), "आश्रमेर रूप–ओ–विकाश" जो उनके मृत्यु के वर्ष 1941 में प्रकाशित हुई, और विश्वभारती नामक पुस्तिका में शामिल किए गए भाषण। रचनाओं की तीसरी श्रेणी में वे रचनाएँ आती हैं जो शान्तिनिकेतन विद्यालयेर शिक्षादर्श नामक पुस्तक में शामिल की गई हैं। साथ ही, कई अन्य पत्र हैं जो आश्रमवासियों, मित्रों और सम्बन्धियों को इस प्रश्न पर लिखे गए कि शान्तिनिकेतन आश्रम कैसे चलाया जाए।

मेरे विचार में शिक्षा सम्बन्धी टैगोर के मूल विचार उनके लेख "तपोवन" में पाए जाते हैं। उनके शैक्षिक आदर्शों का निर्माण मूलतः दार्शनिक विचारों, खासकर उपनिषदों द्वारा हुए थे। इसमें कोई शक नहीं कि टैगोर पर प्राचीन ब्राह्मणवादी पढ़ने–पढ़ाने का गहरा प्रभाव था। यह तरीका संस्कृत साहित्य, विशेषकर कालिदास के काव्य में प्रकट होता है। उनके विचारों की झलक "तपोवन", "तपस्या", "आश्रम", "संगम", आदि जैसे महत्वपूर्ण शब्दों के प्रयोग में मिलती है। इनका प्रयोग उन्होंने बिना अर्थ नहीं बल्कि एक विशेष उद्देश्य के साथ किया। उनके शैक्षिक सिद्धान्त का सार मनुष्य और प्रकृति के बीच आध्यात्मिक एकता है। टैगोर की कल्पना थी कि बच्चों का विकास नैसिर्गिक रूप से प्रकृति की गोद में होना चाहिए। उन पर रूसो और अँग्रेज़ी रोमांटिक कवियों, जैसे शेली और वड्र्सवर्थ का प्रभाव देखा जा सकता है। रूसो और गाँधी के समान टैगोर का भी विश्वास था कि शहर के मुकाबले गाँव शिक्षा के उद्देश्य के लिए अधिक उपयुक्त है। इस अर्थ में वे पूरी तरह कल्पनावादी थे। वे कहा करते थे कि शिक्षा फैक्टरी में काम की दक्षता हासिल करने के लिए नहीं थी और न ही स्कूल और कालेजों में परीक्षाएँ पास करने के लिए थी। सच्ची शिक्षा तपोवन में, प्रकृति के साथ एकता में ही हासिल की जा सकती है, तपस्या के जरिए शुद्ध होकर ही। उन्होंने आगे कहा,... "हमारे स्कूल में यह सिर्फ ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा नहीं होगी, सिर्फ ज्ञान के लिए नहीं, बल्कि "बोध" के लिए भी।" वे लिखते हैं, "मेरे स्कूल की स्थापना का मूल स्वतंत्रता की इच्छा की उस याद में है... सम्पूर्ण मुक्ति विश्व में सम्बन्धों के सम्पूर्ण समन्वय में है– इसे जानकर नहीं बल्कि उसका हिस्सा बनकर।" अपने शैक्षिक उद्देश्य के बारे में कवि ने कहा, "मैनें अपनी संस्था एक सुन्दर जगह में बनाई, शहर से दूर, जहाँ बच्चों को पुरातन पेड़ों की छाँव तले अधिकतम आज़ादी थी और चारों ओर खेत–खलिहान क्षितिज तक फैले हुए थे.... शुरू से ही मैंने ऐसा वातावरण निर्मित करने की कोशिश की जो कक्षा में पढ़ाई से अधिक महत्व की थी।"

लेकिन टैगोर शान्तिनिकेतन से निराश हो गए। वे समझते थे कि इसमें उनके विचारों पर अमल नहीं किया गया। वे कहते हैं, "अभिभावकों की अवसरवादिता परीक्षा की प्रणाली लागू करने के लिए ज़िम्मेदार है। इसने एक प्रकार से आज़ादी और स्वतः स्फूर्तता का वातावरण खराब कर दिया है।" वित्त की समस्या हल करने के लिए उन्हें धनी परिवारों के बच्चे भर्ती करने पर मजबूर होना पड़ा। अभिभावक अपने बच्चों के भविष्य के बारे में चिन्तित थे और इसलिए उन्होंने परीक्षा लागू करने पर जोर दिया। अपना प्रयोग जारी रखने के लिए टैगोर ने 1924 में एक और स्कूल स्थापित किया। इसमें ऐसे बच्चे शामिल किए गए जो अनाथ थे या जिनके माता–पिता इतने गरीब थे कि वे उन्हें किसी भी स्कूल में नहीं भेज सकते थे। पैसों की कमी के कारण शुरू में टैगोर ने ज़्यादा बच्चे भर्ती नहीं किए। उन्हें स्कूल से बड़ी आशाएँ थीं। वास्तव में, टैगोर ने एमहर्स्ट को 19 दिसंबर 1937 को लिखे एक पत्र में "शान्तिनिकेतन के स्कूलों और कालेजों की बजाय शिक्षा सत्र की शैक्षिक सम्भावनाओं को अधिक महत्व दिया। शान्तिनिकेतन के स्कूलों और कालेज तो हर दिन अधिकाधिक देश के दूसरे स्कूलों और कालेजों के समान होते जा रहे हैंः बन्द पिंजड़ों के समान जो छात्रों के दिमागों को कैद पंछी की तरह लेते हैं, जिनका मानवीय महत्व इस बात से मापा जाता है कि वे पाठों को यंत्रवत दोहराते हैं या नहीं, जिसे इस धरती के लिए विदेशी झुकाव वालों ने तय किया है।" टैगोर समझते थे कि शिक्षा सत्र शिक्षा सम्बन्धी उनके विचारों की पुष्टि

करेगा। दुर्भाग्यवश, जैसी अपेक्षा वे कर रहे थे, वैसा हुआ नहीं।

सुनीलचन्द्र सरकिर के अनुसार, "(श्रीनिकेतन स्कूल में) अलग बात यह हुई कि व्यावहारिक काम को अधिक महत्व दिया गया जिसके सहारे यह अपेक्षा की जाती थी कि छात्रों को आसपास की दुनिया का अधिक ज्ञान होगा।" यह ध्यान देने योग्य है कि एल. के. हमहर्स्ट ने पहले ही "स्कूल आफ एग्रीकल्चर" नामक संस्था के निदेशक के रूप में ग्रामीण पुनगर्ठन कार्यक्रम शुरू किया था। टैगोर इस संस्था के अध्यक्ष थे। श्रीनिकेतन प्रयोग के दौरान ग्रामीण समाज की विशेष ज़रूरत के आधार पर विकसित आत्मसहायता और सहयोग के जरिए सामुदायिक विकास पर ध्यान दिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि टैगोर डिवी के विचारों और प्रयोगों से अवगत थे। हो सकता है ऐसा एमहर्स्ट के ज़रिए हुआ हो, जो डिवी के स्कूल के छात्र थे। श्रीनिकेतन प्रयोग के पीछे यदि टैगोर प्रोत्साहन के स्त्रोत थे तो एमहर्स्ट मस्तिष्क थे। यह जानना दिलचस्प होगा कि श्रीनिकेतन प्रयोग के बावजूद "तपोवन" में प्रकट किए गए शिक्षा सम्बन्धी उनके विचार बाद में भी नहीं बदले। इन दोनों लेखों के बीच बहुत कम ही अन्तर है– 1909 में रचित 'तपोवन' और 1936 में लिखित "आश्रमेर शिक्षा"। इसमें भी कोई अचरज नहीं कि श्रीनिकेतन को टैगोर के प्रमुख शैक्षिक प्रयोग का मुख्य अवयव नहीं माना गया है। इसे लोगों ने एक सहायक अध्याय भर माना है।

5

यह दिलचस्प तथ्य है कि ब्रह्मचर्य विद्यालय की स्थापना बोलपुर में 1901 में की गई थी। उस वक्त टैगोर "नैवेद्य" नामक कविताएँ लिख रहे थे जिनमें उपनिषदों की भावना का काफी हद तक समावेश किया गया था। इसी वक्त 1902 में ब्रह्मबांधव उपाध्याय ने टैगोर को 'गुरूदेव' कहा और वे अन्त तक गुरूदेव बने रहे। उस समय टैगोर स्कूल के नियमों में "संहिता" की परम्पराओं का उपयोग करना चाहते थे। मनोरंजन बंदोपाध्याय को एक पत्र में उन्होंने स्पष्ट कहा कि जो कुछ हिन्दू धार्मिक नियमों के खिलाफ हो, उसे आश्रम स्कूल में जगह नहीं मिलनी चाहिए। वे आगे लिखते हैं, "संहिता के नियमों के अनुसार छात्रों को अपने ब्राह्मण शिक्षकों के पैर छूकर प्रणाम करना चाहिए जबकि गैर–ब्राह्मण शिक्षकों को सिर्फ हाथ जोड़कर प्रणाम करना चाहिए।" टैगोर ने 1909 में "तपोवन" लिखा जिसमें उन्होंने शिक्षा सम्बन्धी विचारों का विकास किया। बिना शक उपनिषद की भावना इस लेख का सार है। इससे कुछ वर्ष पूर्व 1904 में उन्होंने अपने लेख "स्वदेशी समाज" में अपना सामाजिक दर्शन पेश किया। उन्होंने ग्रामीण जीवन के बिखराव पर चिन्ता व्यक्त करते हुए इसका कारण खोज निकालने की कोशिश की साथ ही उन्होंने ग्रामीण पुनर्गठन के ठोस सुझाव भी पेश किए।

लेकिन 1911 में लिखे गए उनके नाटक अचलायतन से ब्राह्मणवाद की रूढ़ियों की ओर उनके रूख में परिवर्तन दिखाई देता है। इसमें धर्म की सच्ची भावना की कीमत पर कठोर पुरोहितों द्वारा पालन किए जा रहे कर्मकाण्डों की आलोचना की गई। उनके बारे में कहीं गलतफहमी न पैदा हो जाए, इसलिए उन्होंने ललित कुमार बंदोपाध्याय द्वारा आलोचना के जवाब में स्पष्टीकरण दिया। टैगोर ने कहा कि उनके बारे में यह गलतफहमी नहीं होनी चाहिए कि वे मंत्रों और कर्मकाण्डों के खिलाफ हैं। ज्ञानार्जन और बौद्धिक कार्य में बाधा पहुँचाने वाले रीति–रिवाज़ों की सचमुच आलोचना की जानी चाहिए, लेकिन ऐसे रीति–रिवाज प्रशंसनीय हैं जो मानसिक क्षितिज बढ़ाते हैं और ज्ञान में सहायक होते हैं। यह रुझान 1916 में 'बालक' के काल में लिखी गई कविताओं में अधिक स्पष्ट हो जाती है। "बालक" में वे युवाओं और दुस्साहसिक कार्यों के लिए गाते हैं, भौगोलिक भूत के रूप में राष्ट्रवाद का त्याग करते हैं और सार्वत्रिक मानवतावाद का समर्थन करते हैं। साथ ही वे पश्चिमी संस्कृति की संकुचित भावना स्वीकार नहीं करते और उपनिषदों की भावना से अलग नहीं होते।

यह और भी दिलचस्प है कि 1920 के दशक के मध्य में उन्होंने दो प्रसिद्ध नाटक उस समय लिखे जब श्रीनिकेतन प्रयोग चल रहा था। ये थे 1922 में मुक्तोधारा और 1924 में रक्तकरबी। इनमें मशीनी सभ्यता के प्रति उनकी आपत्ति दीख पड़ती है। दोनों ही में वे प्रकृति पर मशीनी टेक्नॉलॉजी के प्रभुत्व से चिन्तित हैं। तकनीकी प्रभुत्व वाले समाज के शोषण के चरित्र के प्रति तिरस्कार की उनकी भावना स्पष्ट है। वे 1930 में रूस गए और फिर दो प्रसिद्ध लेख लिखे–1933 में "शिक्षार बिकिरन" और 1936 में 'शिक्षार स्वांगीकरन'। "शिक्षार स्वांगीकरन"

में उन्होंने अपने पहले के कई विचार दोहराए जो उनके विचार में अभी भी प्रासंगिक थे। वास्तव में, शोधकर्ता अधिकतर उद्धरण इन्हीं दो लेखों से देते हैं। इससे पहले के उनके लेख "शिक्षार हेरफेर" ओर इन दोनों में कोई मूल अन्तर नहीं हैं। उसी प्रकार उनकी प्रसिद्ध रचना "तपोवन" और 1941 में लिखे "आश्रमेर शिक्षा" में कोई मूल अन्तर नहीं है। "टैगोर की शिक्षा सम्बन्धी विचार प्रक्रिया में कोई मूलभूत दार्शनिक परिवर्तन" खोज पाना मुश्किल है, जैसा कि विश्वभारती के एक भूतपूर्व उपाचार्य कहते हैं। लेकिन यह सम्भव है कि शिक्षा सम्बन्धी उनके विचारों में विकास के साथ इस या उस पहलू पर जोर सन्दर्भ की माँग के अनुसार बढ़ गया।

6

विश्वभारती क्वार्टरली के 1947 के विशेषांक में टैगोर और गाँधी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों एवं प्रयोगों के बारे में दो लेख छपे। इन्हें अनाथनाथ बसु और सुनीलचन्द्र सारकिर ने लिखा था। ये दोनों ही लेख शिक्षाप्रद हैं लेकिन गाँधी और टैगोर के बीच अन्तर को कम करके पेश किया गया है। सारकिर लिखते हैं, दोनों की प्रणालियों की तुलना से पता चलता है कि उनमें खून के रिश्तों जैसे सम्बन्ध हैं, और जो अन्तर हैं उन्हें हल किया जा सकता है.....। बसु ने अन्तर के मुख्य मुद्दों को इस प्रकार हल करने की कोशिश की, "जहाँ तक व्यवहार के सिद्धान्त का प्रश्न है, दोनों दर्शन एकमत हैं। लेकिन जहाँ व्यावहारिक सिद्धान्त अधिक सचेत तरीके से प्रयुक्त हुआ है और पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाया गया है, वहाँ टैगोर इसकी विस्तृत व्याख्या नही करते और न ही इसके गिर्द स्पष्ट पाठ्यक्रम निर्मित करते हैं.... यहाँ अन्तर शायद इस कारण से है कि टैगोर शिक्षा का दर्शन पेश कर रहे थे, न कि पाठ्यक्रम बनाने का सिद्धान्त।" यह तर्क विश्वस्त करने वाला बिलकुल नहीं है। गाँधी के लिए यह सिर्फ व्यावहारिकता का सिद्धान्त या इस पर आधारित पाठ्यक्रम निर्मित करने की बात नहीं थी। बात इससे कहीं अधिक थी। गाँधी मुनाफा देने वाले उत्पादक कार्य के जरिए शिक्षा प्रदान करना चाहते थे। उनके अनुसार मुख्य प्रश्न आत्मसन्तुष्टि का था। गाँधी के अनुसार, "शारीरिक काम की ट्रेंनिग का उद्देश्य स्कूल म्यूजियम के लिए वस्तुएँ बनाना या खिलौने बनाना नहीं होगा, जिसका कोई मूल्य न हो। इसका उद्देश्य ऐसी वस्तुएँ बनाना होना चाहिए। जो बेंची जा सकें। बच्चे इसे फैक्टरी के शुरुआती दिनों की तरह नहीं करेंगे जब वे चाबुक के डर से काम किया करते हैं। वे इसलिए काम करेंगे कि इससे उनका मनोरंजन होता है और बौद्धिक प्रेरणा मिलती है।' गाँधी के लिए बेसिक शिक्षा उनके राजनीतिक कार्यक्रम का एक अवयव थी। उनके अनुसार वर्तमान शिक्षा में तीन त्रृटियाँ थीं; एक, यह विदेशी संस्कृति पर निर्भर था, जिसने स्थानीय संस्कृति लगभग समाप्त कर दी थी; दूसरा, यह दिल और हाथ की संस्कृति की उपेक्षा करके पूरी तरह दिमाग तक ही सीमित रहता है; और तीसरा, विदेशी माध्यम में असली शिक्षा असम्भव है। उन्होंने 1921 में यंग इंडिया में लिखा कि उनकी कल्पना की शिक्षा "तीन उद्देश्य पूरा करेगी : शिक्षा को आत्मनिर्भर बनाना; बच्चों के शरीर एवं दिमाग दोनों ही का विकास करना और विदेशी धागे और कपड़ों के पूर्ण बहिष्कार का रास्ता खोलना, इस प्रकार बच्चों को आत्मनिर्भर एवं स्वतंत्र बनने के लिए तैयार करना।" उन्होंने आगे कहा, "ऐसे स्कूलों में बच्चों का खेल हल जोतना होगा। यह विचार कि यदि हमारे लड़के और नौजवान फुटबाल, क्रिकेट और इसी प्रकार के अन्य खेल नहीं खेलेंगे तो उनका जीवन नीरस हो जाएगा, बिलकुल गलत है।" गाँधी ने लिखा, मेरी योजना है कि धागा बुनने और कार्डिंग, इत्यादि जैसे ग्रामीण हस्तशिल्प के जरिए प्राइमरी शिक्षा प्रदान की जाए और उन्हें दूरगामी शान्त सामाजिक क्रान्ति का मुख्य ज़रिया बनाया जाए जिसके गहरे नतीजे होंगे।

लेकिन टैगोर गाँधी द्वारा आत्मनिर्भर स्कूल पर मूल ज़ोर से सहमत नहीं थे। उन्होंने 29 दिसम्बर 1937 को कलकत्ता विश्वविद्यालय के सीनेट हाऊस में हुई न्यू एजुकेशन फेलोशिप की एक बैठक को लिखे एक सन्देश में यह विचार अस्वीकार कर दिया। उनके विचार में बेसिक शिक्षा की योजना का अधिक जोर व्यक्तिगत विकास के बजाए भौतिक ज़रूरतों पर था। वे ऐसी शिक्षा का समर्थन करने को तैयार नहीं थे। जिसमें खेलों का स्थान उत्पादक कार्य ले ले और बच्चों की मेहनत से अर्जित आय का एक हिस्सा शिक्षकों को दे दिया जाए। गाँधी और टैगोर के बीच जीवन तथा कार्य के प्रति रूख में मूलभूत अन्तर था। यह जानना और भी दिलचस्प है कि वर्धा सम्मेलन में जाकिर हुसैन ने भी अपने भाषण में शंका प्रकट की, "इसके फलस्वरूप शिक्षक गुलामी ढोने वाले लोग बन जाएँगे और गरीब लड़कों की मेहनत का शोषण करेंगे। यदि ऐसा हुआ तो तकली किताबों से भी बुरी

साबित होगी। और हम अपने देश में एक छिपी गुलामी की व्यवस्था के आधार के निर्माण में लग जाएँगे।" के. टी. शाह ने भी कहा, "....रहने की वर्तमान बुराई का स्थान एक ऐसी बुराई ले लेगी जिसमें छात्रों से अधिक कार्य कराया जाएगा और उनके श्रम का अनुचित शोषण होगा। यह चुपचाप लेकिन अवश्य भावी रूप से होगा और शिक्षा का असली उद्देश्य पीछे चला जाएगा।" वास्तव में वे दोनों ही आर्थिक विकास के रास्ते के विषय में गाँधी से मतभेद रखते थे। शाह ने लिखा कि, "शारीरिक कार्य पर ज़ोर देना अपनी जगह पर है, लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हम मशीनी युग में रहते हैं। इसलिए यदि आप हाथ से काम पर बहुत ज़्यादा जोर देते हैं और मशीन को दूर रखते हैं तो यह देश के आर्थिक विकास के लिए हानिकारक होगा।" इसमें आश्चर्य नहीं कि वर्धा कमेटी रिपोर्ट ने आत्मनिर्भर शिक्षा के गाँधी के सिद्धान्त को हल्का बना दिया। ऐसा गाँधी की इस चेतावनी के बावजूद किया गया, "यदि आप समझते हैं कि मशीनें सचमुच अनिवार्य हैं तो आपको मेरी स्कीम अस्वीकार कर देनी चाहिए और नई स्कीम का सुझाव देना चाहिए।"

7

गाँधी की योजना का महत्व समझने के लिए आत्मनिर्भर शिक्षा के बारे में कुछ शब्द कहना ज़रूरी होगा। सभी भारतीय नेताओं में गाँधी और सिर्फ गाँधी ही ने शिक्षा को श्रमिकों की दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया। गाँधी और अन्य में यही अन्तर है। गाँधी का यह विश्वास सही था कि श्रमिक परिवारों के बच्चे अपने माता–पिता की मदद के लिए अपनी इच्छा से काम करते हैं। वे जानते हैं कि काम नहीं होने का मतलब खाना भी नहीं। यदि "मुनाफा देने वाले उत्पादक श्रम" पर आधारित गाँधी की योजना सार्वत्रिक रूप से लागू की जाती तो इससे कृषि समाज में बालश्रम अवश्य ही समाप्त हो जाता। इससे उत्पादन सम्बन्धों में खेतिहर मज़दूरों की स्थिति मज़बूत हो जाती। भूस्वामियों के खिलाफ अपने संघर्ष के दौरान समर्थन के लिए इससे एक आर्थिक आधार तैयार किया जा सकता था। लेकिन गाँधी ने इस पहलू को स्पष्ट नहीं किया, शायद इसलिए कि अहिंसा का उनका सिद्धांत वर्ग संघर्ष तेज करने की इजाजत नहीं देता। लेकिन उन्होंने माना कि "इस प्रकार शिक्षित बच्चे आत्मनिर्भर हो जाएँगे। इससे घर और स्कूल के बीच निरन्तरता का सम्बन्ध कायम रहेगा।"

लेकिन मशीनी सभ्यता का गाँधी द्वारा विरोध व्यावहारिक नहीं था, हालाँकि समझ में आने वाली बात अवश्य थी। गाँधी इस समस्या के प्रति सचेत थे, जैसा कि उनकी कई रचनाओं से स्पष्ट था। वे मशीन के सीमित उपयोग से भी सहमत थे, जैसे सिलाई मशीन, जो बिना श्रमिक को हटाए श्रम की उत्पादकता बढ़ाए या जो श्रम को अपना गौण अंग न बना दे। वे मानव श्रम तथा प्राकृतिक शक्तियों पर मशीन के प्रभुत्व के खिलाफ थे। यह शायद सही है कि टैगोर को भी मशीनी सभ्यता के प्रति कुछ आपतियाँ थीं, जैसा कि उनके नाटक मुक्तोधारा ओर रक्तकरबी में स्पष्ट होता है। दार्शनिक दृष्टि से दोनों ही मशीनी सभ्यता के खिलाफ थे, खासकर इसके शोषण और उपभोक्तावादी चरित्र के। शायद टैगोर आवश्यकता के प्रति अधिक संवेदी थे, और इसलिए आधुनिकीकरण से सहमत थे लेकिन सीमित अर्थों में ही। आखिर थे तो वे एक कवि, और राजनीति उनका क्षेत्र नहीं था। दूसरी ओर गाँधी ने शारीरिक श्रम की नैतिकता पर आधारित राजनीतिक दर्शन का विकास किया। इसे उपनिवेशवाद के आर्थिक और सांस्कृतिक प्रभुत्ववादी शोषण के विकल्प के रूप में विकसित किया गया। गाँधी स्वतः–स्फूर्त संवेदी तरीके से श्रमिकों की मानसिक दुनिया से जुड़े हुए थे। वे अपना राजनीतिक दर्शन ग्रामीण समाज में श्रमिकों की आवश्यकता और आकांक्षाओं की लय के साथ विकसित करना चाहते थे। शारीरिक श्रम पर उनका ज़ोर बड़े महत्व का है क्योंकि श्रमिकों के पास यही एकमात्र पूँजी होती है। बड़े पैमाने के उद्योगों का निर्माण आगे और बढ़ाने के लिए दूसरों का श्रम छीनकर किया जाता है। श्रम का विमानवीय किया जाता है और उसे खरीद–बिक्री की वस्तु बना दिया जाता है। गाँधी के विचार में आधुनिक मशीनी सभ्यता अनैतिक थी और आखिर विनाश की ओर ले जाएगी।

इस सम्बन्ध में सभी गाँधी से सहमत नहीं होंगे। लेकिन औद्योगिक रूप से विकसित समाजों में मानव मूल्यों का ह्रास और सांस्कृतिक पतन स्पष्ट है। इसे नज़रअन्दाज नहीं किया जा सकता। यदि हम अधिक व्यापक प्रश्नों को छोड़ भी दें तो इतिहास और हाल की घटनाओं ने हमारे जैसे देश में आत्मनिर्भर शिक्षा की आवश्यकता की पुष्टि की है। अपने शान्तिनिकेतन प्रयोग में टैगोर की विफलता का मुख्य कारण उन धनी माता–पिताओं की

अनुचित माँगों के आगे झुकना था जिनके बच्चों को आर्थिक कारणों से भर्ती करना पड़ा था। दिलचस्प बात यह है कि श्रीनिकेतन प्रयोग आरम्भ करने के लिए उन्हें विदेश से एमहर्स्ट द्वारा लाई गई वित्तीय सहायता पर निर्भर होना पड़ा था। सी.एफ. एंड्रयूज ने इसका अनुमोदन नहीं किया। लेकिन इस प्रयोग की विफलता के कारणों पर विद्वानों ने अभी ठीक से विचार नहीं किया। बिना शक, ग्रामीण पुनर्गठन श्रीनिकेतन प्रयोग का मुख्य उद्देश्य था। टैगोर के शब्दों में, "स्वदेशी समाज" शीर्षक से अपने लेख में मैने कहा है कि हमें गाँव को केन्द्र में रखकर अपना राष्ट्रीय जीवन पुनर्गठित करना है। लेकिन अपनी डेरी, मुर्गी–पालन और कृषि सुधार स्कीमों के बावजूद श्रीनिकेतन आत्मनिर्भर नहीं हो सकता। टैगोर का दूसरा शैक्षिक प्रयोग "शिक्षा सत्र" थोड़े ही समय में सामान्य स्कूल में बदल गया। टैगोर की अपेक्षा के विपरीत, शान्तिनिकेतन स्कूल ने अपना अनुसन्धानकारी प्रयोगवादी चरित्र काफी पहले खोते हुए भी कुछ आर्कषण बनाए रखा। शायद यह कुलीन (इसे कलकत्ता पढ़िए) सम्पर्कों के कारण था, जबकि 'शिक्षा सत्र' भुला दिया गया।

8

इस सन्दर्भ में आत्मनिर्भर शिक्षा के गाँधी के विचारों पर संक्षिप्त विचार प्रासंगिक होगा। उत्पादक कार्य के ज़रिए पढ़ते वक्त एक छात्र कितना कमा लेगा, इसका हिसाब लगाने की कोशिश की गई। यह पाया गया कि दूसरे वर्ष से एक छात्र काम करके एक आना प्रति घण्टे कमा सकता है। इसका अर्थ हुआ कि एक महीने में 26 दिन चार घण्टे प्रतिदिन के हिसाब से काम करके वह महीने में कुल छह रूपए आठ आने कमा सकता है। बेसिक शिक्षा स्कीम में एक शिक्षक का मासिक वेतन 25 रुपए तय किया गया था। यदि 25 छात्र अपनी मासिक आय में से प्रति व्यक्ति (छात्र) दो रु. देते हैं तो दो शिक्षक रखे जा सकते हैं। फिर भी उनके पास प्रति माह चार रुपए आठ आने बच रहेंगे। 1930 के दशक में बंगाल में एक खेतिहर मज़दूर 20 रुपए प्रति माह कमाया करता। जूट की खेती के सीजन के उच्च बिन्दु पर सबसे अधिक वेतन 11 आना प्रतिदिन था। सीजन खत्म होते–होते यह तीन आना प्रति दिन पर आ जाया करता। खेतिहर मजदूर को सूर्योदय से सूर्योस्त तक काम करना पड़ता था जिसके बीच आधे से एक घण्टा खाने की छुटटी हुआ करती। उस वक्त पूर्वी बंगाल में चावल सात सेर प्रति रुपए के हिसाब से मिला करता और बर्दवान में 11 सेर प्रति रुपए के। तो यह कहा जा सकता है कि एक छात्र आसानी से प्रति माह एक मन (38 किलो) चावल कमा सकता था। एक खेतिहर मज़दूर के परिवार के लिए बिना शक यह बहुत बड़ी मदद होती। यदि इतना चावल मिल जाए तो इन परिवारों के बच्चे माड़ पसारा हुआ चावल (पंथा) खाकर स्कूल जा सकते हैं। जो लोग ग्रामीण बंगाल के जीवन से अवगत हैं वे इस प्रकार की कमाई का महत्व समझेंगे। मेहतनकश परिवारों के बच्चों को यदि खाने को उचित मात्रा में भोजन मिल जाए तो वे खुशी–खुशी काम करेंगे। वे काम करने से हिचकिचाते नहीं, बल्कि उन्हें इसकी आदत होती है। कृषि समाज में श्रम जीवन का तरीका होता है, सिर्फ कमाने का ज़रिया नहीं। कृषि समाज की कार्य–संस्कृति को समझे बगैर गाँधी की शिक्षा–स्कीम को समझना सम्भव नहीं।

मेरे विचार में खेल और साहसिक कार्य टैगोर की शिक्षा के महत्वपूर्ण अवयव थे, जबकि गाँधी के लिए काम में ही खेल की भावना निहित थी। टैगोर की शिक्षा प्रणाली में प्रकृति और संगीत, ड्रामा, पेंटिंग, नृत्य इत्यादि का महत्वपूर्ण स्थान था। गाँधी भी संगीत और कलाकारी को महत्वपूर्ण स्थान देते थे, लेकिन वे शारीरिक दक्षता और उत्पादक कार्य में सौन्दर्य की खोज करते थे। उनकी विचार प्रक्रिया में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रश्न हमेशा ही आपस में गुंथे रहते थे। टैगोर अपन झुकाव के अनुरूप आराम की संस्कृति की वकालत किया, करते, जबकि गाँधी अपने स्वभाव के अनुसार कार्य की संस्कृति पर जोर देते। इस सम्बन्ध में उन दोनों के बीच मूलभूत अन्तर था। लेकिन दोनों ही प्रेम और आजादी को बड़ा महत्व देते। दोनों ने पश्चिमी उपभोक्तावाद को अस्वीकार कर दिया। सादा जीवन और शारीरिक श्रम गाँधी के मानवीय मूल्यों के मूल अवयव थे। टैगोर भी सादा जीवन और श्रम के सम्मान की प्रशंसा किया करते, लेकिन आराम अर्थपूर्ण जीवन के उनके विचार का केन्द्र था। जैसा कि एक विद्वान ने कहा है कि टैगोर शायद "भक्ति मार्ग" पर चल रहे थे जबकि गाँधी "कर्म मार्ग" पर।

। । । । । । । । ।

# पठन सामग्री क्र.– 25

# आर्य समाज सुधार आंदोलन का शिक्षा दर्शन/शिक्षा में योगदान–

आर्य समाज सुधार आंदोलन स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारो से प्रेरित था। स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार कोई भी व्यक्ति बिना वेदो को समझे ईश्वर, धर्म और विज्ञान को नही समझ सकता क्योंकि उनके अनुसार वेद सभी विज्ञानों का आधार है। वेद समझे बगैर सच्चा ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नही।

(अक्टूबर 1883) स्वामी दयानन्द की मृत्यु के पश्चात दयानंद एंग्लो– वैदिक कालेज की स्थापना की गई। जहां नए अंग्रेजी भाषा के साथ–साथ वेदों को भी पढ़ाया जाता था। कई स्कूलों की स्थापना की गई जिनमें सुधारे/परिष्कृत हिन्दूवाद को पढ़ाया जाता था। उन्होंने वैदिक स्कूलों को उन सभी बुराईयों को दूर करने का उपाय माना जो बाल–विवाह, विधवा विवाह पर पाबंदी, विवाहों पर होने वाले अत्यधिक खर्च से उत्पन्न होती है। पर इनका यह विश्वास भी था कि अगर हमारे बच्चें वेदों से परिचित होंगे तो कभी दूसरे धर्म के तरफ नही झुकेंगे। न ही वे शराबी और व्याभीचारी बनेंगें।

आर्य समाजियों ने नए दौर में अंग्रेजी के महत्व को भी समझा और इंग्लिश पढ़ाने को वैदिक स्कूलो के लिए एक अत्यधिक लाभ के रूप में देखा क्योंकि इससे छात्रों को आकर्षित करना आसान था और वेदों के अध्ययन की सुविधा इन स्कूलों को एक विशेष आकर्षण प्रदान करती थी। क्योंकि अंग्रेजी भाषा का ज्ञान न केवल आधुनिक विज्ञान को सुलभ कराऐगा साथ ही छात्रों को आधुनिक युग के उत्तम राष्ट्र के विचारो से भी अवगत कराऐगा।

इन उद्देश्यों से अंग्रेजी व संस्कृत भाषाओं को एंग्लों–आर्य स्कूल में पढ़ाया जाता था। लेकिन अरबी और फारसी का विरोध किया गया। संस्कृत का पुनृरूत्थान फारसी के त्याग का कारण बना और अंग्रेजी भविष्य को एक आधुनिक युगद्वार के रूप में देखा गया जबकि संस्कृत को वैदिक युग को समझने की कुंजी माना गया। संस्कृत का ज्ञान वैदिक जानकारियों को प्राप्त करने और उनके आधार पर रूढ़िवादी ब्राहम्णों को शास्त्रार्थ में पराजित करने के काम भी आया और सार्वजनिक शास्त्रार्थ के लिए रूढ़िवादी ब्राहमणों को चुनौतिया दी जाने लगी।

संस्कृत, देवनागरी लिपी और हिन्दी की मांग का समर्थन, ब्राहमण समाज और रूढ़िवादी नेताओं ने भी किया। हिन्दू समुदाय में आर्य समाज के शैक्षणिक प्रयोगों को आम सहमति मिली।

आर्य समाजियों में कुछ का प्रयास था कि शिक्षा का उददेश्य विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग और आम जनता के बीच की खाई को दूर करना भी होना चाहिए जिससे एक संगठित हिन्दू समुदाय का पुनुरूत्थान होगा। इसलिए शिक्षा का प्राथमिक उददेश्य शिक्षित और अशिक्षित वर्ग को साथ लाना होना चाहिए। जिसके लिए राष्ट्रीय भाषाओं व बोलियों का अध्ययन होना चाहिए। और नैतिक और आध्यात्मिक ज्ञान के लिए संस्कृत का अध्ययन करना चाहिए व देश की तरक्की के लिए भौतिक विज्ञान व अन्य का व्यवहारिक विज्ञान को भी पढ़ा जाना चाहिए। साथ ही अंग्रेजी का अध्ययन विश्व के साथ तालमेल बनाने के लिए। यह एक सूत्र रहा आर्य समाजियों का शिक्षा को लेकर।

## बालिका शिक्षा

1890 में बालिका शिक्षा पर आर्य समाज में प्रयास शुरू कर दिए थे। आर्य कन्या पाठशाला का विस्तार किया गया। छात्रावास, कन्या आश्राम खोले गए। जिनमें पंजाब से लेकर पूना की छात्राएं आने लगी। और इन स्कूलों को मिली सफलता ने कन्या महाविद्यालय स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया। 1896 में लाला देवराज और मुंशीराम दो आर्य समाजियों ने कन्या महाविद्यालय की स्थापना की। कन्या आश्रम में विवाहित, अविवाहित और

विधवाओं सभी को प्रवेश पाने का प्रावधान था। बालिका शिक्षा में साक्षरता के साथ–साथ लड़किया सिलाई, कढ़ाई, चित्रकला, खाना बनाना, संगीत, कविता, खेल, गणित, स्वच्छता और समाज के धार्मिक साहित्य को पढ़ना भी सीखती थी। कुछ छात्राए बीच में ही पढ़ाई छोड़ देती थी परन्तु कुछ अपनी पढ़ाई पूरी करती थी और फिर दूसरे स्कूलों में शिक्षिका का काम करने लगती थी। बालिका शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए कन्या महाविद्यालय का अपने स्नातकों से आग्रह था कि वें अपने घरो में स्कूल खोले और लड़कियों को पढ़ाएं।

1898 में पंचाल पंडिता नामक हिन्दी मासिक पत्रिका शुरू किया गया। जिसका उददेश्य महिला शिक्षा का प्रचार प्रसार करना था। इसके अलावा कन्या महाविद्यालय ने कई तरह पठन सांमग्री प्रकाशित की और ये एक महत्वपूर्ण प्रयास था तो महिला की पारम्परिक छवि को बदलने के लिए किया गया था । महाविद्यालय नें अपनी छात्राओं, शिक्षिकाओं और प्रकाशन के माध्यम से शिक्षिका बालिका को एक वास्तविका में तबदील कर दिया।

# इकाई– 6
# समुदाय की भूमिका
# भाग– 6

इस इकाई में हम समुदाय की कल्पना व वर्तमान व्यवस्था में उसकी भूमिका पर चर्चा करेंगे।

## पठन सामग्री क्र.— 25
## वर्तमान छत्तीसगढ़ में पी टी ए की भूमिका
# शालेय प्रबन्धन एवं विकास में सामुदायिक सहभागिता

**छत्तीसगढ़ शासन/स्कूल शिक्षा विभाग/स्कूल शिक्षा विभाग मंत्रालय/F6-30/08/20 क्रमांक 807/20/2008 रायपुर, दिनाँक 15.5.08 के अनुसार।**

छत्तीसगढ़ राज्य ने शिक्षा के सार्वजनीकरण के लिए शासन की नीति अनुसार सभी गाँव, मंजरों तथा टोलों में प्रारम्भिक स्कूल की व्यवस्था कर दी है। अब केवल जनसंख्या वृद्धि के कारण आवश्यकतानुसार प्रारम्भिक स्तर की शालाएँ खोली जाएँगी। कई जगह हाई तथा हायर सेकण्डरी स्कूल अभी भी खोलने की आवश्यकता है। इसके लिए शासन योजनाबद्ध तरीके से निश्चित समय में स्कूल की व्यवस्था करने हेतु कार्यरत है।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद के अध्ययन के अनुसार छत्तीसगढ़ राज्य का औसत अधिगम सभी कक्षाओं की सभी विषयों में राष्ट्रीय औसत से लगभग 10 प्रतिशत पीछे है। डाईस 2006—07 के अनुसार उच्च प्राथमिक स्तर पर शालात्याग दर 50 प्रतिशत से अधिक है। बच्चों की अनुपस्थिति चिन्ताजनक विषय है। विभागीय समीक्षा तथा शिक्षकों से चर्चा के अनुसार समुदाय तथा विशेषकर पालकों के बीच शिक्षा के प्रति जागरूकता की कमी तथा अनास्था के कारण यह स्थिति बनी हुई है।

एक ओर अधिकांश गाँवों में यह स्थिति है तो दूसरी ओर कई गाँवों में समुदाय तथा पालकों ने सहभागिता में कमाल किया है। शिक्षक तथा वरिष्ठ अधिकारियों की पहल से समाज आगे आया है। स्कूल की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु दान दिए हैं। गुणवत्ता वृद्धि हेतु सुविधाएँ बढ़ाई हैं तथा शाला प्रबन्धन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसका असर बच्चों की उपस्थिति पर पड़ा है। कुछ तो ऐसे गाँव हैं जहाँ 6—14 वर्ष के सभी बच्चे शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। आने वाले कुछ वर्षों में इन स्कूलों की गुणवत्ता भी अवश्य सुधरी हुई नजर आएगी।

सफलता की कहानियों की इन पुनरावृत्ति सम्पूर्ण राज्य में हो इसलिए जन भागीदारी एवं विकास समिति की संरचना एवं कार्य विधि में व्यापक परिवर्तन की आवश्यकता है। यदि बच्चों को गुणवत्ता पूर्ण शिक्षा नहीं मिली तो उसकी हानि बच्चों के पालकों व परिवारों को उठानी पड़ती है। इसलिए सभी समितियों में पालकों को ही प्राथमिकता दी जाना आवश्यक है। उसी प्रकार गाँव स्तर पर ग्राम पंचायत वैधानिक संस्था है। अतः सरपंच तथा पंचों को समितियों में शीर्ष भूमिका देना नियमानुकूल होगा। इससे गाँवों में मतभेद भी कम होंगे तथा आवश्यकतानुसार शाला विकास हेतु ग्रामपंचायत बड़े पैमाने पर निधि निवेश भी करेगा। इन बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए शासन एतद् द्वारा निम्नानुसार आदेश जारी करता हैः—

### (1) समिति के नामः— प्रत्येक शाला में तीन प्रकार की समितियाँ होंगी :—

1. कक्षावार मूल्यांकन एवं गुणवत्ता विकास समिति या कक्षा समिति।
2. पालक—शिक्षक संघ
3. शाला प्रबन्धन एवं विकास समिति (School Management and Development Committee) या प्रमुख समिति

### (2) उद्देश्यः—

1. शाला के प्रबन्धन एवं विकास में सामुदायिक सहभागिता बढ़ाना।
2. स्कूल के शैक्षिक गुणवत्ता के विकास हेतु समयबद्ध कार्ययोजना बनाना, उसका क्रियान्वयन तथा मॉनीटरिंग करना व शिक्षा की गुणवत्ता सुधार हेतु आवश्यकतानुसार सभी क्रियाकलाप करना।
3. शिक्षा प्रशासन के साथ मिलकर स्कूल के व्यवस्था एवं अनुशासन में सुधार करना।

### (3) व्यापकताः—

1. प्रत्येक शाला हेतु अलग—अलग समितियाँ होंगी।
2. ये समितियाँ प्राथमिक, उच्च प्राथमिक, हाई तथा हायर सेकण्डरी स्कूलों के लिए होंगी।
3. संलग्न स्कूलों में केवल एक ही समिति होगी।

### (4) सदस्यताः— समितियों की सदस्यता निम्नानुसार होगी।

कक्षावार मूल्यांकन एवं गुणवत्ता विकास समिति

1. प्रत्येक कक्षा के पालकों की समितियाँ होंगी।
2. कक्षा शिक्षक द्वारा बच्चों को प्रदर्शन के आधार पर । तथा ठ तथा ๖ वर्गों में बाँटा जाएगा। प्रत्येक वर्ग के बच्चों के पालक समिति के सदस्य नियुक्त किए जाएँगे। कक्षा में 20 से कम विद्यार्थी होने पर 2 अन्यथा 3 पालकों की नियुक्ति की जाएगी।
3. प्रत्येक वर्ग के पालकों का मनोनयन सरपंच तथा प्रधान पाठक द्वारा किया जाएगा।
4. मनोनीत सदस्यों में कम से कम आधी संख्या महिलाओं की होंगी।
5. कक्षा में अनुसूचित जनजाति/ अनुसूचित जाति तथा अल्पसंख्यक समुदाय के बच्चे होने पर इन प्रवर्गों के पालकों का मनोनयन अनिवार्य होगा।
6. समिति के सदस्यों द्वारा अध्यक्ष का चयन किया जाएगा।
7. कक्षा शिक्षक इस समिति के सदस्य सचिव होंगे।
8. पहली कक्षा की समिति प्रत्येक वर्ष सितम्बर माह के पूर्व गठित करना अनिवार्य होगा।
9. कक्षा समिति हर वर्ष बदली जाएगी।
10. कक्षा समिति की बैठक प्रत्येक माह होगी।
11. कक्षा समिति के कार्यों का मूल्यांकन प्रमुख समिति करेगी एवं आवश्यकतानुसार सदस्य बदलने का कार्य करेगी।
12. कक्षा के बच्चों का मूल्यांकन वर्ष में कम से कम 3 बार किया जाना है। यह मूल्यांकन इस समिति के देख —रेख में किया जाएगा।
13. मूल्यांकन उपरान्त परिणामों पर कक्षा समिति में चर्चा होगी तथा प्रत्येक बच्चे की गुणवत्ता सुधार हेतु कार्य योजना निम्न सारणी में बनाई जाएगी।

| क्र. | बच्चे का नाम | गुणवत्ता सुधार का लक्ष्य | की जाने वाली कार्यवाही | | |
|---|---|---|---|---|---|
| | | | शिक्षक द्वारा | पालक द्वारा | दोनों मिलकर |
| | | | | | |

14. कार्य योजना का क्रियान्वयन कक्षा समिति द्वारा किया जाएगा।

## शिक्षक पालक संघः—

सभी कक्षा समितियों के सभी सदस्यों को मिलाकर शिक्षक पालक संघ गठित किया जाएगा। प्रमुख समिति के अध्यक्ष संघ के भी अध्यक्ष होंगे। इसके अलावा सदस्यों द्वारा संघ के उपाध्यक्ष का चयन किया जाएगा जो अध्यक्ष की अनुपस्थिति में सर्वाअधिकार सम्पन्न होगा।

## संघ के कार्यः—

1. शिक्षक पालक संघ की बैठक प्रत्येक मूल्यांकन के बाद होना अनिवार्य होगा।
2. शालेय प्रबन्धन एवं विकास सम्बन्धित कार्ययोजना तथा उसके क्रियान्वयन की
3. समीक्षा करना।
4. कक्षा समितियों को अधिक क्रियाशील तथा कारगर बनाने हेतु मार्ग दर्शन तथा
5. प्रशिक्षण देना।
6. बच्चों में आकादमिक कौशल, जीवन कौशल तथा मानवीय मूल्यों के विकास हेतु
7. कार्य योजना के बिन्दु सुझाना।
8. उपरोक्त कार्यों हेतु पालकों में जागरूकता निर्माण करना।

## शाला प्रबन्धन एवं विकास समिति अर्थात् प्रमुख समिति

### अध्यक्ष

### 1. ग्राम पंचायत क्षेत्र के स्कूलों के लिए

1. ग्राम पंचायत में एक ही स्कूल होने पर सरपंच अथवा कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति इस समिति के अध्यक्ष होंगे। प्रतिष्ठित व्यक्ति का चयन प्रमुख समिति के पालक सदस्य करेंगे।
2. ग्राम पंचायत अन्तर्गत एक से अधिक स्कूल होने पर सरपंच ग्राम पंचायत मुख्यालय की सभी समितियों का अध्यक्ष होगा।
3. पंचायत के अन्य गाँव/मंजरा/टोला स्थित स्कूलों के समितियों में स्थानीय पंच अध्यक्ष होंगे। ऐसे गाँव/मंजरा/टोला में एक से अधिक पंच हैं तो सरपंच द्वारा मनोनीत पंच समिति के अध्यक्ष होंगे।
4. स्कूल स्थित गाँव/मंजरा/टोला में निर्वाचित सरपंच/पंच न होने की स्थिति में सरपंच द्वारा मनोनीत पास ही के गाँव/मंजरा/टोला का पंच समिति का अध्यक्ष होगा।

### 2. नगरीय निकायों के लिएः—

शहरी निकायों के स्कूलों में स्थानीय पार्षद अथवा शहरी निकाय के प्रतिष्ठित व्यक्ति अध्यक्ष होंगे। प्रतिष्ठित व्यक्ति का चयन प्रमुख समिति के पालक सदस्य करेंगे।

### सदस्य सचिवः—

शाला के प्राचार्य/प्रधान अध्यापक पदेन सदस्य सचिव होंगे।

### कोषाध्यक्षः—

समिति के सदस्य सचिव द्वारा मनोनीत शाला का कोई शिक्षक/व्याख्याता/शिक्षाकर्मी कोषाध्यक्ष होगा।

### अन्य सदस्यः—

1. स्थानीय गाँव/मंजरा/टोला के अन्य निर्वाचित पंच में से अधिकतम दो सदस्य।

2. सभी कक्षा समितियों के अध्यक्ष।
3. सम्बन्धित गाँव/मंजरा/टोला के स्कूल में यदि अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अल्पसंख्यक समुदाय के स्कूल उम्र के बच्चे हैं तो मनोनीत/निर्वाचित सदस्यों में प्रत्येक समुदाय का कम से कम एक सदस्य होना आवश्यक होगा। यदि समितियों में इन समुदाय के लोगों का प्रतिनिधित्व पहले से हो तो इन्हें पुनः समिति में लेने की आवश्यकता नहीं है।
4. गाँव/मंजरा/टोला/नगरीय निकाय से ही शिक्षण गतिविधि में रुचि रखने वाले 3 मनोनीत युवाओं को प्रमुख समिति के सदस्य मनोनीत किया जाएगा (अधिकतम आयु सीमा 35 वर्ष), जिसमें कम से कम एक युवती का होना अनिवार्य होगा, इन शिक्षित युवाओं का मनोनयन समिति के पालक सदस्यों द्वारा किया जाएगा।

**कोरमः—**

बैठक हेतु पालक सदस्य में से एक तिहाई सदस्यों तथा मनोनीत युवा में से कम से कम एक सदस्य की उपस्थिति अनिवार्य होगी।

**कार्यकाल :**

जिस सत्र में समिति का गठन हो उसके प्रारम्भ अर्थात् एक जुलाई से समिति का कार्यकाल 3 वर्षों के लिए होगा। कार्यकाल की समाप्ति समिति निर्माण उपरान्त तीसरे शैक्षणिक सत्र की समाप्ति के साथ होगी।

**सदस्यता से मुक्तिः—**

1. सचिव को त्यागपत्र देकर कोई भी सदस्य अपनी सदस्यता समाप्त कर सकेगा।
2. बिना पर्याप्त कारण के लगातार तीन बैठकों में अनुपस्थित रहने पर सदस्यता समाप्त हो जाएगी। इसकी सूचना सम्बन्धित सदस्य को सचिव द्वारा दी जाएगी।
3. पालक सदस्य के सभी पाल्यों के स्कूल छोड़ देने पर अथवा लगातार एक माह अनुपस्थित रहने पर उनकी सदस्यता समाप्त हो जाएगी जिसकी सूचना सचिव द्वारा दी जाएगी। बच्चे की शारीरिक अस्वस्थता/बीमारी में यह शिथिलनीय होगा।
4. किसी भी सदस्यता के समाप्त होने पर शेष पालक सदस्यों द्वारा उसी प्रकार के सदस्यों का मनोनयन किया जाएगा जिस प्रकार के सदस्य की सदस्यता समाप्त हुई है। ऐसे मनोनीत सदस्यों की सदस्यता मूल समिति के साथ समाप्त हो जाएगी।

**बैठकः—**

1. समिति की बैठक सत्र के प्रारम्भ में तथा उसके अतिरिक्त प्रत्येक तीन माह में कम से कम एक बार बुलाई जाएगी।
2. सदस्यों के सुझाव पर अथवा अध्यक्ष के चाहने पर अथवा स्वविवेक से सचिव द्वारा समिति की बैठक आवश्यकतानुसार बुलाई जाएगी।
3. समिति की प्रत्येक बैठक का ब्यौरा इस कार्य के लिए रखी गई पुस्तिकाओं में सचिव द्वारा अंकित किया जाएगा। और उस पर अध्यक्ष तथा सचिव के हस्ताक्षर होंगे।

**समिति का कार्यक्षेत्रः—**

सम्बन्धित शाला के विद्यार्थियों के प्रवेश से सम्बन्धित ग्राम अथवा शहर जहाँ अन्य शाला नहीं हो।

**शाला प्रबन्धन एवं विकास समिति के कार्यः—**

1. वे सभी कार्य करना जो शाला के कार्यक्षेत्र के सभी बच्चों के शैक्षिक विकास के लिए आवश्यक एवं

उपयोगी हो।

2. शाला की भौतिक आवश्यकताओं जैसे श्यामपट, सजावट, रंगाई–पुताई, फर्नीचर, शैक्षिक सामग्री तथा उपकरण आदि उपलब्ध कराना। इस हेतु शाला विकास निधि, ग्राम पंचायत निधि तथा सामुदायिक सहभागिता से प्राप्त निधि का उपयोग करना।
3. शालेय प्रांगण में बाग–बगीचा, फुलवारी, झूले, फिसलपट्‌टी इत्यादि निर्माण कर उसका अनुरक्षण करना।
4. विद्यार्थियों के लिए शासन द्वारा उपलब्ध कराई जाने वाली सामग्रियों जैसे – पाठ्यपुस्तक, गणवेश, छात्रवृत्ति, बीमानिधि, सायकल, टाटपट्‌टी, फर्नीचर, स्टेशनरी, मूत्रालय, शौचालय, पेयजल इत्यादि समय पर प्राप्त कर वितरण करना। शासन द्वारा प्रदत्त सामग्रियों की व्यवस्था एवं वितरण की मानिटरिंग करना। शासन से सामग्रियाँ समय पर सही मात्रा में प्राप्त नहीं होने पर वरिष्ठ अधिकारी तथा शासन का ध्यान आकृष्ट करना।

**मध्यान्ह भोजन व्यवस्थाः–**

1. मध्यान्ह भोजन का साप्ताहिक/पाक्षिक/मासिक मीनू तैयार करना तथा नियमित गरम–स्वादिष्ट भोजन की उपलब्धता बनाए रखना।
2. मध्यान्ह भोजन कार्यक्रम का पर्यवेक्षण करना।
3. कार्यक्रम के अन्तर्गत प्राप्त खाद्यान्न, पकाने का खर्च, खाना बनाने के बर्तन, बच्चों की ऊँचाई एवं वज़न नापने की मशीनों का शासन के निर्देशानुसार रिकॉर्ड रखा जाना सुनिश्चित करना।
4. मध्यान्ह भोजन पकाने वाली एजेन्सी के कार्यों का पर्यवेक्षण करना एवं आवश्यकतानुसार कुकिंग एजेन्सी बदलना/तय करना।
5. बच्चों, पालकों एवं शिक्षकों के साथ चर्चा कर मौसम के अनुसार मीनू तय करना।
6. कार्यक्रम में जन सहयोग की सम्भावनाएँ खोजना एवं उसके लिए कार्य योजना बनाना।
7. शाला के उपलब्ध संसाधनों का उपयोग कार्यक्रम को सुदृढ़ बनाने के लिए करना। (सब्ज़ी उगाने के लिए शाला प्रागंण में बाड़ी लगाना, किचन शेड निर्माण हेतु प्रागंण में स्थान चिह्नित करना। बच्चों के बैठने की जगह चिह्नित करना इत्यादि)

**सभी बच्चों के शैक्षिक विकास हेतुः–**

1. शाला की परीक्षाओं में नकल पर रोक लगाना।
2. कक्षा समिति के माध्यम से शालेय मूल्यांकन में ईमानदारी स्थापित करना।
3. मूल्यांकन उपरान्त सभी बच्चों की अकादमिक प्रगति हेतु कार्ययोजना बनाना तथा उसे क्रियान्वित करना।
4. इस कार्ययोजना के क्रियान्वयन में सहयोग नहीं करने वाले शिक्षकों बाबत वरिष्ठ अधिकारियों को प्रमाण सहित जानकारी उपलब्ध कराना।
5. बच्चों के अकादमिक मार्गदर्शन एवं मदद हेतु शालेय कार्य में उत्साही युवक/युवतियों का समूह तैयार कर उनकी मदद लेना।
6. बच्चों में जीवनकौशल, जैसे, समय प्रबन्धन, समस्या हल करने का कौशल, संवाद कौशल, निर्णय कौशल, कड़ी मेहनत का कौशल, सकारात्मक सोच का कौशल, समस्या हल का कौशल, सृजनशीलता इत्यादि हेतु कार्य करना।
7. सभी बच्चे नियमित उपस्थित रहें इस हेतु पालकों में जागृति तथा शिक्षकों में संवेदनशीलता निर्माण

करना।

8. बच्चों की निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करना तथा कक्षाओं में उनकी नियमित उपस्थिति सुनिश्चित करना।

9. सभी बालिकाएँ शिक्षा ग्रहण करें इस ओर विशेष ध्यान देना।

10. शाला में भ्रमण पंजी (Movement Register) सन्धारण की व्यवस्था क्रियान्वित करना। इस पंजी में शाला के बाहर जाने वाले प्रधान पाठक/प्राचार्य, शिक्षकों तथा अन्य कर्मचारी जाने के पूर्व, जाने तथा वापस आने के दिनाँक का कार्यविवरण के साथ स्पष्ट लेख करेंगे। कोई कर्मचारी अवकाश के आवेदन बिना अनुपस्थित हो तथा भ्रमण पंजी में भी नाम न हो तो उसे अनाधिकृत अनुपस्थित मानते हुए इस ओर वरिष्ठ अधिकारियों का ध्यान आकृष्ट करना।

11. प्रत्येक माह के अन्त में वेतन भुगतान प्रमाण पत्र पर हस्ताक्षर करते समय अनाधिकृत अनुपस्थित दिनों, तथा शैक्षिक योजना के क्रियान्वयन में यदि असहयोग की गई हो, तो उसका टीप देना।

12. प्रत्येक वर्ष के शुरू में वर्षान्त तक प्राप्त की जाने वाली गुणवत्ता सुधार कार्यक्रम का विज़न तैयार करना। जैसे –

| | **इस वर्ष की प्राप्ति** | **अगले वर्ष (सत्रान्त) का विज़न** |
|---|---|---|
| नामांकन | 100: | 100: |
| उपस्थिति | 20: बच्चे अनियमित | अनियमित बच्चों की संख्या शून्य |
| गुणवत्ता | 20% A ग्रेड<br>30% E ग्रेड | 50% A ग्रेड<br>0% E ग्रेड |

13. सही गुणवत्ता प्राप्त करने वाले शिक्षकों को समुदाय द्वारा प्रोत्साहन हेतु इत्यादि प्रदान करना।

|||||||||